जैन भारती

वर्ष 48 • अंक 2 • फरवरी, 2000

With best compliments from :

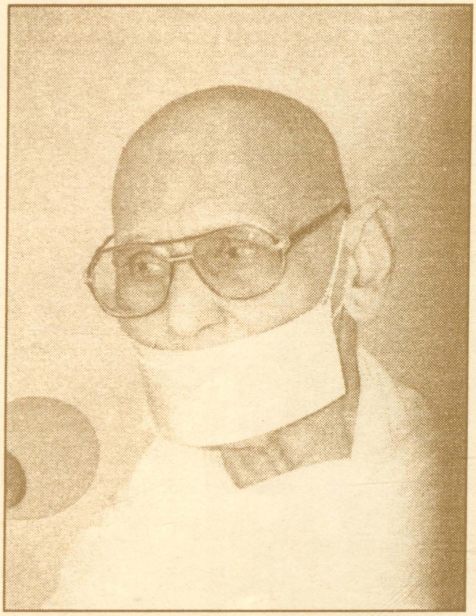

AMIT
A CHOPRA PRODUCT
Mfg. Art Silk Sarees & Dress Material

AMIT – SYNTHETICS

Shop : W-3207, Surat Textile Market
Office : 402, Anand Market, Ring Road
SURAT 395002
Phone : 622076, 625680, 622027 Fax : 0261-636651

Pemchand Chopra Charitable Trust
W-3207, Surat Textile Market
Ring Road, SURAT

•

Jhamkudevi Chopra Charitable Trust
11-A,B, Sai Ashish Society
Udhaua Magdalla Road, SURAT

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बछराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

फरवरी, 2000 वर्ष 48 अंक 2 रु. 15.00

प्रसंग

5
शुभू पटवा
जर्द होती जीवन-पोथी

विमर्श

9
दयालचन्द्र सोनी
धर्म और विज्ञान : कैसे पटेगी बीच की खाई

13
डॉ. रश्मि मयूर
विज्ञान का दुरुपयोग क्यों

अनुभूति

19
आचार्यश्री तुलसी
संघ का अनुशासन

25
आत्मकथ्य
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
मैं मुनि होना चाहता हूं

41
डॉ. दयानंद भार्गव
महाप्रज्ञ : जैन नहीं जिन

43
प्रेरक कथा
मुनि दुलहराज
धन की उपासना

48
कविता
नन्दकिशोर आचार्य की कविताएं

शीलन

51
साध्वी विश्रुतविभा
समता को कैसे साधें

53
साध्वी विमलप्रज्ञा
उपहार (?) बीसवीं सदी का

55
समणी सत्यप्रज्ञा
जीवन शैली : रहें भीतर जीएं बाहर

•
आवरण
अडिग

सदस्यता शुल्क
वार्षिक 125/- रुपये
त्रैवार्षिक 350/- रुपये
दसवर्षीय 1000/- रुपये

प्रधान कार्यालय
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट
कलकत्ता 700001

प्रकाशकीय कार्यालय
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

ताओधर्मी आकांक्षा का लक्ष्य ताओ से एकत्व प्राप्त करना है—वह अवस्था जिसमें मनुष्य संसार के विधि-नियमों द्वारा लगाई गई सीमाओं से मुक्त होकर ताओ का अनुकूल वाहन बन जाता है। जब यह एकत्व सिद्ध हो जाता है, हम स्थिरता और शांति प्राप्त कर लेते हैं। त्से-शिया कहते हैं : 'जो मनुष्य ताओ से सामंजस्य स्थापित कर लेता है वह बाह्य पदार्थों से भी घनिष्ठ स्वैरैक्य की स्थिति में पहुंच जाता है और उन में से कोई भी उसे हानि पहुंचाने या उसके मार्ग में बाधा डालने में समर्थ नहीं होता।'

वास्तविक गुण अंतर में ताओ की स्वप्रसूत अभिव्यक्ति है, न कि नैतिक आदेशों का कृत्रिम पालन। फूल अर्थात् गुण तभी स्वतः खिल पड़ते हैं, जब मूल ताओ उपस्थित रहता है।

सभी को ताओ की गुप्त शक्ति प्राप्त है, इसलिए प्रत्येक को दूसरों के प्रति सहानुभूति का आचरण करना ही चाहिए। 'भले के प्रति मैं भला होऊंगा, पर जो बुरे हैं उनके प्रति भी भला ही रहूंगा, क्योंकि इससे उन सब को भी मैं भला बना सकूंगा।'

—डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

मर्यादा का मूल्य साधक के विवेक पर निर्भर होता है। साधक का मनोभाव साधना की ओर झुका हुआ होता है, तब वह स्वयं नियंत्रण चाहता है। मर्यादाएं मूल्यवान बन जाती हैं। आत्मानुशासन की मर्यादा का अवमूल्यन होता देख अल्पविकसित साधकों के लिए कभी-कभी आचार्य को बाहरी नियंत्रण भी करना पड़ता है। यह करना चाहिए या नहीं, यह अहिंसा की दृष्टि से विचारणीय है, किंतु संघीय जीवन में ऐसा हो ही जाता है। बाहरी नियंत्रण पर आधारित मर्यादाएं संघ के लिए आवश्यक होती होंगी, किंतु साधना की दृष्टि से उनका कोई मूल्य नहीं है। साधना की दृष्टि से मूल्यवान मर्यादाएं वे ही हैं, जो आत्मानुशासन से उपजी हों।

'भिक्षु विचार दर्शन' से

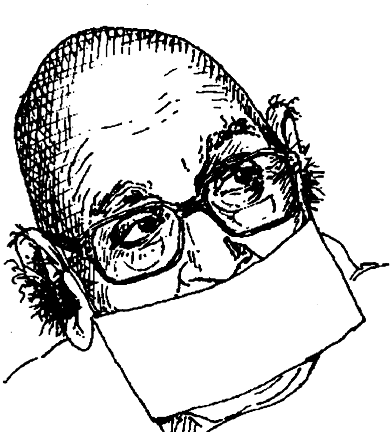

मर्यादा गण को धारण करती है और उसे धारण करता है विश्वास। श्वास न हो और चैतन्य हो—जैसे यह असंभव है, वैसे ही विश्वास न हो और मर्यादा हो, यह भी संभव नहीं है। मर्यादा और कुछ नहीं है अपना विश्वास ही है। हमारा गण मर्यादाओं का पालन इसीलिए तो करता है कि उसका उनमें विश्वास है। प्रश्न होता है कि विश्वास किसके प्रति हो? मेरी मान्यता है कि वह मूल में अपने प्रति होना चाहिए। आचार्य, गण और सहयोगियों के प्रति विश्वास तभी हो सकता है, जबकि अपने प्रति हो। अपने-आपको ठगकर ही मनुष्य दूसरों के प्रति वंचना का व्यवहार करता है। वहां सारी मर्यादाएं टूट जाती हैं। इसलिए मैं आत्मविश्वास को मर्यादा की मर्यादा मानता हूं। मैं देशकाल की सीमाओं को देख कभी-कभी मर्यादाओं के आकार-प्रकार में परिवर्तन भी ला देता हूं, परंतु विश्वास में परिवर्तन लाना कभी नहीं चाहता। पूर्वाचार्यों के प्रति, उनकी कृतियों के प्रति अविश्वास उत्पन्न करने को जैसे मैं क्षम्य नहीं मानता, वैसे ही उनके व्यक्तित्व को सीमित बनाने के प्रयत्न को भी मैं क्षम्य नहीं मानता।

—आचार्यश्री तुलसी

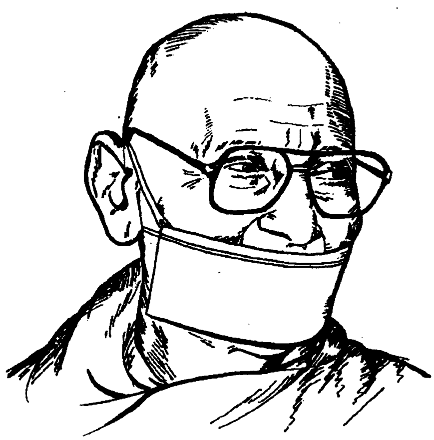

मर्यादा जीवन है। मर्यादा संयम है। यह हमारे जीवन का अभिन्न अंग है। समय-समय पर मर्यादाओं का निर्माण होता है। उनमें परिवर्तन और परिवर्द्धन होता है। मर्यादाएं देश, काल और क्षेत्र से आबद्ध होती हैं। उनको शाश्वत मान लेने से बड़ी कठिनाइयां उत्पन्न हो जाती हैं। हमारा यह विवेक जागृत हो कि देश, काल और क्षेत्र से आबद्ध जो वस्तु है, उसको उस देश, काल और क्षेत्र के लिए अनिवार्य मानें। जो व्यक्ति मर्यादा को तुच्छ मानता है, वह स्वयं तुच्छ बन जाता है। मर्यादा-पालन का विवेक स्वयं के अंतःकरण से स्फूर्त होना चाहिए। उसके लिए दूसरे का साक्ष्य अपेक्षित नहीं होता। आचार्य किस-किस साधु-साध्वी के साथ जाते हैं। आज हमारे साधु-साध्वी दूर-दूर देशों में विहार करते हैं और अपनी मर्यादाओं का पूर्ण रूप से पालन करते हैं। यत्र-तत्र स्खलनाएं होने पर उन्हें स्वयं प्रायश्चित्त करना होता है। हमारी मर्यादाएं अंतःकरण से स्वीकृत मर्यादाएं हैं। वे थोपी नहीं जातीं, वे ग्रहण की जाती हैं।

...तेरापंथ संघ की व्यवस्था पूर्ण समाजवादी व्यवस्था है। यहां पूर्ण समाजवाद मूर्त होता है। चार मुनि हैं और एक रोटी मिली है तो चारों उस रोटी का एक-चौथाई हिस्सा लेंगे। चार गिलास पानी है तो प्रत्येक मुनि एक-एक गिलास पानी ही पिएगा, ज्यादा नहीं। यह अनुशासन है, मर्यादा है। एक बार एक मुनि ने लापरवाही बरती। निर्धारित मर्यादा के अनुरूप आचरण नहीं किया। उसको तत्काल संघ से बहिष्कृत कर दिया। एक छोटी-सी बात के लिए इतना बड़ा दंड। प्रश्न छोटी-सी बात का नहीं है, प्रश्न है अनुशासन का। इस प्रकार प्रत्येक आचार्य ने अनुशासन को अक्षुण्ण रखने के लिए प्रयत्न किया है, कर रहे हैं और करेंगे। तेरापंथ की रीढ़ है, मर्यादा का पालन। तेरापंथ की रीढ़ है, अनुशासन का पालन।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

जर्द होती जीवन-पोथी

नदी हो कि सागर, कि स्वभाव, अपने कूल को तोड़ कर न उनका अस्तित्व टिका रह सकता है और न उनको श्रेयस् कहा जा सकता है। प्रकृति जब अपनी सीमा तोड़ती है तो प्रलय की स्थितियां प्रबल हो उठती हैं, लेकिन प्रकृति का एक सहज गुण भी है कि वह अपना संतुलन स्वयं बनाती है। प्रलय फिर क्यों आता है? स्वाभाविक उत्तर है—संतुलन के बिगड़ने से। मनुष्य यदि प्रकृति को अपना विश्वविद्यालय बनाले और उसी से 'जीवन पाठ' पढ़े तो संतुलन का बोध स्वतः होता चला जा सकता है। लेकिन हम देख रहे हैं कि प्रकृति के इस विश्वविद्यालय की यह 'जीवन-पोथी' कहीं धर कर भुला दी गई है।

ऐसे संक्रमण के इस काल में एक धर्म संगठन हर साल 'जीवन-पोथी' की जर्द को उजला करने का काम करता है। यह काम तेरापंथ करता है और माघ शुक्ला सप्तमी का दिन पिछले एक सौ छत्तीस साल से इस संगठन के अंग-अंग में रचा-बसा है। इस दिवस का नाम 'मर्यादा' है। तेरापंथ के लिए यह महोत्सव है—'मर्यादा-महोत्सव'।

नाम से ही उसका काम भी प्रकट हो रहा है। यह तो महोत्सव का दिन है, पर जो महोत्सव है मर्यादा का, वह इस संगठन के साधकों के पल-पल के जीवन का हिस्सा है। उनकी 'जीवन-पोथी' है।

यह विडंबना है कि यह दिन एक धर्म संगठन तक सीमित है। एक सौ छत्तीस साल की सुदीर्घ परंपरा और इसके उज्ज्वल-दीप्त फलितार्थ समूचे समाज के सामने हैं, पर समाज के अंग के रूप में ग्रहण नहीं हो रहे, यह विडंबना नहीं तो और क्या है? अराजकता की स्थितियों से मुक्त होने का मार्ग एक धर्म संगठन प्रशस्त कर रहा है, पर हमारी संकीर्णता का यह आलम है कि वह हमारे लिए ग्राह्य नहीं, क्योंकि यह मार्ग एक 'धर्म संघ' बता रहा है।

बेहतर और सुंदर कहीं भी हो, उसके स्वीकार्य का भाव समाज में जिन कारणों से तिरोहित हो रहा है, वह कारण धार्मिकों की संकीर्णता ही तो है। इसे धर्म की संकीर्णता नहीं कहा जा सकता। यह संकीर्णता तो उस जड़ माथे की है जो 'सत्त्व' को दायरों में देखता है। क्या 'सच' को किसी दायरे में लिप्त किया जा सकता है? क्या प्रेम और करुणा को किन्हीं 'रंगों' में बांट सकते हैं? फिर क्या कारण है कि तेरापंथ के इस 'मर्यादा महोत्सव' का संदेश समग्र समाज को अभिप्रेरित नहीं कर रहा?

तेरापंथ के लिए यह बात चिंतनीय नहीं है। जो करणीय है, उसका वह काम हो रहा है। समाज की दृष्टि से यह बात चिंतनीय है जिसके कूल टूटते-बिखरते जा रहे हैं। राजसत्ता से लेकर समाज के किसी भी वर्ग को देख लें, सभी ओर अराजकता का घटाटोप है। मदमत्ता से घिरे सत्ता प्रतिष्ठानों पर महावत के रूप में धर्म का गजबांक कभी असरदार रहा है, पर इस समय वह भोथरा हो गया है। कभी 'धर्म' ही सर्वोच्च था, पर अब अक्सर यह देखा जा सकता है कि वह राजसत्ता का मुखापेक्षी है। गजबांक की उसकी भूमिका अब नजर नहीं आ रही। क्यों? धर्म संस्थान भी तो अब अपनी ही ढपली और राग अलाप रहे हैं। वहां भी 'सत्ता प्रतिष्ठान' बन गए हैं। सत्ता प्रतिष्ठानों की कुछ अपनी अनिवार्यताएं और कुछ विवशताएं होती हैं, धर्म की भी हैं।

संक्रमण की यह स्थिति त्रासद है। जिस सत्ता प्रतिष्ठान से उपजने वाली विकृतियों के लिए धर्म अंकुश का काम करता था, आज वह स्वयं 'सत्ता प्रतिष्ठान' बन गया है, विकृत हो गया है। इस हालत में तेरापंथ का यह 'मर्यादा महोत्सव' समाज को जो संदेश दे रहा है वह समीचीन है। अतः इसे एक धर्म के दायरे में देखना हमारी भूल होगी। आचार्यश्री तुलसी आत्म-विश्वास को मर्यादा की मर्यादा मानते हैं। एक अनुशास्ता के रूप में वे अपने को भी कसौटी पर चढ़ाते हैं। उनका मानना था—अनुशासन करना, शिष्यों के उल्लास को उन्मुक्त रखना, पर निरंकुश न होने देना—यह अनुशास्ता की कसौटी है। अनुशासन को मानना, उद्दंड या हीन भावना न पनपने देना, आचार्य के उल्लास में विघ्न न बनना—यह शिष्यों की कसौटी है।

मर्यादा के प्रसंग में आचार्यश्री तुलसी के इन विचारों को व्यापक फलक पर देखें तो हम पाएंगे कि सामाजिक स्तर पर भी उनकी ये बातें सर्वथा प्रासंगिक हैं। जहां वे अनुशास्ता की भूमिका की बात करते हैं, वहां प्रकारांतर में वह राज्य व्यवस्था ही तो है और जहां शिष्यों की भूमिका की बात आती है वहां आम जनता को इस रूप में देखा जा सकता है। संक्रमण के इस घटाटोप में इस विचार को अंगीकार करना न धर्मांध होना है और न संकीर्ण। महापुरुष वही हुए हैं जो धर्मांधता से मुक्त होकर व्यापक और समग्रता की बात कहते हैं। वे चाहे तुलसी हो या गांधी या कि बुद्ध और महावीर। वे अपने ही समय के नहीं, हर समय के युग पुरुष हैं, क्योंकि उनकी बातें सदा युगांतर हैं।

भगवान महावीर ने 2526 वर्ष पूर्व जो कुछ कहा वह आज भी समीचीन है। महावीर ने कहा—'समो य सव्व भूएसु, समो निंदापसंसासु'—प्राणीमात्र के प्रति समभाव, निंदा-प्रशंसा में समता। महावीर ने फिर कहा—'पुढवि समे मुणी हवेज्जा'—विपरीत परिस्थिति में पृथ्वी के समान धैर्य रखा जाए। महावीर की इस वाणी पर आज के संदर्भ में विचार करें। जब महावीर 'निंदा-प्रशंसा' में समभाव की बात कहते हैं तो उसका निहितार्थ 'शास्ति और समादर' ही है। ऐसा करते हुए महावीर जब 'पृथ्वी के समान धैर्य' रखने की बात कहते हैं तो उसका निहितार्थ 'शास्ति व समादर' की स्थितियों में पृथ्वी की तरह का भाव रखने से है।

हमारे समाज को आज ऐसे भाव में ढालने की जरूरत है। इसमें ढलने का सांचा वह 'मर्यादा' ही हो सकती है जो तुलसी और महावीर की वाणी से निःसृत है।

जर्द होती जीवन-पोथी को उजालने के लिए धर्मांधता नहीं, मर्यादा की वह मर्यादा अपेक्षित है जिसमें आत्म-विश्वास आलोकित होता है। हमें धर्म के उन पहलुओं को समझना जरूरी है जिनसे वह वास्तविक रूप में परिभाषित होता है। सत्य, अहिंसा और करुणा की बात करने वाला एक नास्तिक क्या धर्म के वास्तविक स्वरूप से दूर माना जा सकता है? धर्मांधता दरअस्ल वह सांप्रदायिक बाड़ाबंदी है जो तथाकथित ठेकेदार फैलाते हैं और अपना हित-साधन करते हैं। उनकी पहचान कठिन नहीं है। उनसे सतर्क रहने की अवश्य जरूरत है।

मर्यादा का असली मतलब आत्मविश्वास और उन्मुक्त उल्लास ही है।

—शुभू पटवा

विमर्श

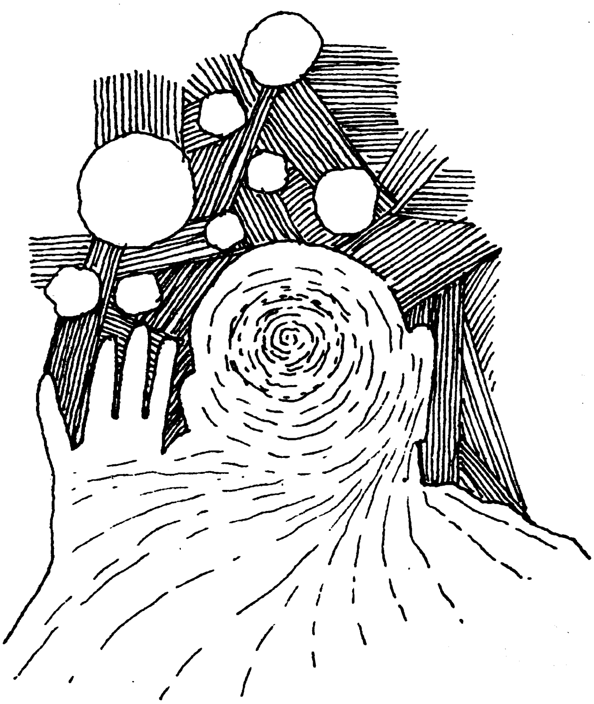

'लोकतंत्र, स्वतंत्रता, मानव गरिमा, जीवन स्तर, आत्मबोध, सिद्धि आदि का क्या आशय है? ये आकांक्षाएं वस्तुओं की हैं या व्यक्तियों की? निश्चय ही ये व्यक्तियों की हैं, लेकिन व्यक्तियों की सत्ता छोटे-छोटे समूहों में ही कारगर होती है। इसलिए हमें एक ऐसा सुगठित ढांचा खड़ा करना चाहिए, जिसके भीतर अनेक छोटी-छोटी इकाइयां ढंग से काम कर सकें। यदि आर्थिक चिंतन इसको स्वीकार नहीं कर पाता तो वह व्यर्थ है। यदि वह राष्ट्रीय आय, संवृद्धि की दर, पूंजी-निर्गत अनुपात, निर्दिष्ट-निर्गत विश्लेषण, श्रमिक गतिशीलता, पूंजी संचय जैसे अमूर्त विचारों से आगे बढ़ कर निर्धनता, निराशा, अलगाव, हताशा, स्वास्थ्य-भंग, अपराध, पलायन, तनाव, भीड़भाड़, असुंदरता और आध्यात्मिक हनन जैसी मानव जीवन की वास्तविकताओं से दो-चार होने के लिए तैयार नहीं है तो हमें इस अर्थशास्त्र को तिलांजलि देकर कोई नई शुरुआत करनी चाहिए।'

—ई. एफ. शुमाकर, अर्थशास्त्री

'विज्ञान और धर्म' पर हमारे जनवरी अंक में दार्शनिक-चिंतक यशदेव शल्य के विचार आपने पढ़े। परिचर्चा की इस शृंखला में अब प्रस्तुत है—जाने-माने शिक्षाविद् श्री दयालचन्द्र सोनी के विचार। श्री सोनी (जुलाई 1919) ने गांधेय बुनियादी शिक्षा में सफल मौलिक प्रयोग किए हैं। 'अनौपचारिक शिक्षा का सही स्वरूप' ग्रंथ पर 'मदनमोहन मालवीय पुरस्कार' (उ.प्र. सरकार) से सम्मानित श्री सोनी ने कोई डेढ़ दर्जन ग्रंथों की रचना की है।

धर्म और विज्ञान : कैसे पटेगी बीच की खाई

दयालचन्द्र सोनी

मानवेन्द्रनाथ राय का लेख पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि वे विज्ञान एवं धर्म के बीच एक पारस्परिक विरोध की दृष्टि रखते हैं। वे मानते हैं कि समय के साथ विज्ञान की जो वास्तविकता है इससे धर्मगत काल्पनिकताएं हारती जा रही हैं, पर मेरा मत संयोगवश काफी भिन्न है। मैं धर्म एवं विज्ञान के बीच एकता देखता हूं। सवाल है धर्म का मूलार्थ ठीक से समझने का। मुझे जो कुछ कहना है उसकी प्रस्तावना के रूप में इस लेख को एक मनगढ़ंत गल्प (या काल्पनिक कहानी) से शुरू कर रहा हूं। कहानी इस प्रकार की है—

'एक खेत में एक नीम का वृक्ष तथा एक मीठे आम का वृक्ष पड़ोसी थे। एक दफा वर्षा ऋतु में इन दोनों वृक्षों पर एक साथ बिजली गिरी जिससे ये दोनों वृक्ष सूख गए, यानी उनकी जीवात्माएं उन से निकल गईं और यमदूत इन दोनों जीवात्माओं को यमलोक ले गए। यमराज कुछ अन्य जीवात्माओं के पाप-पुण्य पर निर्णय करने में जब तक व्यस्त थे, तब तक उपर्युक्त 'नीमात्मा' एवं 'आम्रात्मा' को यमराज के कक्ष के बाहर एक बेंच पर बैठ कर प्रतीक्षा करनी पड़ी। अब प्रतीक्षा के दौरान 'नीमात्मा' तो यह सोच रही थी कि वह आजीवन कड़वे पत्ते तथा कड़वे फल देती रही है और इस वजह से उसे दंडित किया जाएगा और 'आम्रात्मा' यह सोच रही थी कि उसने जीवन भर मीठे फल दिए हैं, इसलिए उसे पुरस्कृत किया जाएगा। अर्थात् नीमात्मा को डर था कि उसे नरक में डाला जाएगा और आम्रात्मा को विश्वास था कि उसे ससम्मान स्वर्ग में स्थान दिया जाएगा। खैर। थोड़े समय के बाद यमराज ने 'आम्रात्मा' को बुला कर उसके बयान दर्ज किए। तो आम्रात्मा ने बड़े अहंकार के साथ अपने द्वारा पैदा किए गए मीठे फलों की प्रशंसा की तथा उन फलों से लोगों को जो स्वाद मिला उसका बखान किया। साथ में उसने यह बात भी जोड़ दी कि जैसे मीठे फल उसने दिए, वैसे मीठे फल दूसरे आमों के नहीं थे। अतः वह (यानी 'आम्रात्मा') स्वर्ग का अधिकारी है। इस पर यमराज ने निर्णय दिया कि 'तुम मीठे तो इसलिए थे कि प्रकृति ने ही तुम्हें मीठा बनाया था। इसमें तुम्हें स्वयं श्रेय लेने का तथा घमंड में आने का अधिकार नहीं था। तुमने प्रकृति का श्रेय स्वयं लेकर अहंकार धारण कर लिया जो कि पाप है। अतः मैं तुम्हें नरक में भेजता हूं।' उसके बाद यमराज ने 'नीमात्मा' को बुलाकर उसके बयान दर्ज किए। तो नीमात्मा ने डरते घबराते हुए कहा कि, 'हे यमराज, मुझे क्षमा किया जाए। मैंने तो सारी उम्र में बस कड़वे पत्ते एवं कड़वे फल ही इस दुनिया को दिए हैं। मैं इसके लिए दुखी हूं और क्षमा चाहता हूं।' इस पर यमराज ने निर्णय दिया कि 'तुम दुखी मत होओ, पश्चात्ताप मत करो। तुम्हारे कड़वेपन में तुम्हारा कोई दोष नहीं है। तुम बस इसलिए कड़वे थे कि प्रकृति ने ही तुम्हें कड़वा बनाया था। अतः अपने आंसू पोंछ

लो और जाओ स्वर्ग का सुख भोगो।' ऐसा न्याय करने के बाद यमराज न्याय कक्ष से निकले तथा अपने घर गए। इस पर यमराज्ञी ने उनसे पूछा कि आज के न्याय निर्णय कैसे-कैसे रहे? तो यमराज ने और न्याय निर्णयों के साथ उपर्युक्त 'नीमात्मा' एवं 'आम्रात्मा' के न्याय निर्णय की बात भी बता दी। इस पर यमराज्ञी को कौतूहल हुआ और उसने पूछा कि कड़वा होने के बावजूद नीम स्वर्ग का और मीठा होने के बावजूद 'आम्रात्मा' नरक का पात्र कैसे और क्यों माना गया! तो यमराज ने जो जवाब दिया, वह इस प्रकार था कि कड़वापन नीम का धर्म था और मिठास 'आम्रात्मा' का धर्म था। इस पर यमराज्ञी ने प्रश्न किया कि कड़वापन यदि धर्म था तो मीठापन (जो कि कड़वेपन का उल्टा है) भी धर्म कैसे हो सकता है? इस पर यमराज ने जवाब दिया कि नीम का स्वधर्म कड़वापन था और आम का स्वधर्म मीठापन था। अतः आम्रात्मा को मीठेपन पर गर्वित होने की और 'नीमात्मा' को कड़वेपन के लिए लज्जित होने की कोई जरूरत नहीं थी। इस पर यमराज्ञी की शंका का समाधान हो गया और वह अपने पूज्यपतिदेव धर्मराज यमराज के न्याय की प्रशंसा करने लगी।

अब इस गल्प यानी मनगढ़ंत कहानी के आधार पर मेरा मानना है कि विज्ञान तो प्रकृति में व्याप्त धर्म का ही अनुसंधान करने में लगा हुआ है। विज्ञान एवं धर्म में विरोध कहां है? विज्ञान ने नीम को कड़वा और मीठे आम को मीठा पाया। तो विज्ञान ने क्या खोजा? उसने नीम के स्वधर्म का पता चलाया और उसने मीठे आम के स्वधर्म का भी पता चलाया! विज्ञान ने पता चलाया कि चुंबक की सुई ध्रुव की तरफ इशारा करती है। विज्ञान ने पता चलाया की चुंबक लोहे को खींचता है। तो विज्ञान ने क्या किया? विज्ञान ने चुंबक के भीतर छुपे हुए चुंबक के स्वधर्म का पता चलाया!! विज्ञान ने पता चलाया कि सर्दी से पदार्थ सिकुड़ते हैं और गरमी से फैलते हैं। तो विज्ञान ने क्या किया? विज्ञान ने सर्दी एवं गर्मी के स्वधर्म का पता चलाया। विज्ञान ने इंद्रधनुष (या त्रिकोण काच) में सूर्य की रश्मियों में सात रंगों के समन्वय का पता चलाया। तो विज्ञान ने क्या किया? विज्ञान ने सूर्यरश्मियों के स्वधर्म का पता चलाया। न्यूटन ने कहा कि पृथ्वी में आकर्षण शक्ति है और इसीलिए वृक्ष से टूटा फल आकाश की तरफ नहीं जाता बल्कि पृथ्वी पर गिरता है। तो न्यूटन ने क्या खोज की? न्यूटन ने पृथ्वी के स्वधर्म की खोज की। फ्रायड ने नर-नारी के बीच यौनाकर्षण की विवेचना की। तो उसने क्या किया? उसने स्त्रीलिंग-पुल्लिंग के स्वधर्म का विवेचन किया। विज्ञान ने बबूल के कांटों का और गुलाब के फूलों का अध्ययन किया और दोनों में भेद देखा। तो विज्ञान ने क्या अध्ययन किया तथा क्या देखा? विज्ञान ने बबूल के स्वधर्म एवं गुलाब के स्वधर्म का अध्ययन किया तथा उसी को देखा। आयुर्वेद ने हजारों जड़ी बूटियों एवं धातुओं के औषधि तत्त्वों का अध्ययन किया। तो आयुर्वेद ने किस बात का अध्ययन किया? आयुर्वेद ने हजारों जड़ी बूटियों तथा विभिन्न धातुओं के स्वधर्मों का अध्ययन किया। हम सूर्य को नित्य उगता हुआ भी तथा दिन भर रोशनी एवं गर्मी देने के बाद शाम को अस्त होता हुआ देखते हैं। हम सर्दी में दिन छोटे और रातें बड़ी देखते हैं और गर्मी में दिन बड़े तथा रातें छोटी देखते हैं। हम सूर्यग्रहण एवं चंद्रग्रहण भी देखते हैं। तो क्या हम विज्ञान को देखते हैं या हम सूर्य, चंद्र, पृथ्वी के स्वधर्म को देखते हैं? असल में तो हम सूर्य, चंद्र, पृथ्वी के स्वधर्म को ही देखते हैं। गीता के चौथे अध्याय के प्रथम श्लोक में कृष्ण ने कहा है—'मैंने यह अव्यय योग (सर्वप्रथम) विवस्वान् (अर्थात् सूर्य) को बताया।' तो सूर्य केवल विज्ञान का विषय है या सूर्य अपने स्वधर्म के (अपने कर्मयोग के) पालन का विषय है? विज्ञान तो बहुत बाद में आया। सूर्य तो पता नहीं अपने स्वधर्म का (एवं अपने कर्मयोग का) पालन कब से कर रहा है!!!

हम देखते हैं कि समुद्र से सूर्य की गर्मी के कारण पानी की भाप बनती है। यही भाप बादलों की शक्ल में ऊपर उठती है और हवा की मदद से स्थल की ओर बढ़ती है। सामने पहाड़ आ जाने पर भाप ऊपर उठती है और ठंडक पाकर पानी का रूप पुनः ग्रहण करके वर्षा के रूप में बरसती है। इससे नदियां बनती हैं जो धरती के ढाल के सहारे बह कर पानी को पुनः समुद्र में पहुंचा देती हैं। विज्ञानवेत्ता इसमें मात्र विज्ञान नहीं देखेगा बल्कि इसमें वह पानी का गर्मी पाकर भाप बनने का अंतर्निहित स्वभाव (अर्थात् धर्म) देखेगा। गर्मी को पाकर पानी का भाप में परिवर्तित होना पानी का धर्म है। ऊपर उठ कर हवा के साथ बादलों की शक्ल में पहाड़ों पर पहुंचना भाप या बादलों का धर्म है और ठंडक पाकर बादलों का बरसना धर्म है। इसके साथ ही पानी का स्वभाव अथवा धर्म है कि वह ढाल के अनुसार बहे और फिर समुद्र में पहुंच जाए। तो विज्ञान जो कुछ देखता है वह सूर्य, पानी, हवा, धरती आदि की एक धर्मलीला ही तो है!

पर इस बीच एक कल्पनाशील कवि अथवा दार्शनिक सामने आ जाता है और वह सूर्य, पानी, हवा तथा धरती की इस (वाष्प, वर्षा तथा नदी वाली) लीला में एक योजना के चक्र की कल्पना करता है और सोचता है कि इस चक्र के पीछे तो वनस्पति एवं जीव-जंतुओं के परिपालन का लक्ष्य है तथा

इस लीलाचक्र के पीछे कोई योजनाकार भी होना चाहिए। तो मेरा प्रश्न यह है कि जो व्यक्ति शुद्ध वैज्ञानिक ही है और प्रत्यक्ष भौतिक धरातल से अलग होना नहीं चाहता, उस (शुद्ध वैज्ञानिक व्यक्ति) को इस दार्शनिक व्यक्ति से शिकायत क्यों होनी चाहिए?

विज्ञान में ही किसी योजना-चक्र की तथा किसी योजनाकार का आभास या संभावना मिलने की एक और मिसाल लीजिए। विज्ञान ने पता चलाया है कि जितने प्राणी या जीव हैं वे आक्सीजन तो ग्रहण करते हैं और कार्बन डाइ ऑक्साइड (जो कि जीवों या प्राणियों के लिए घातक होती है) छोड़ते हैं। दूसरी तरफ विज्ञान ही ने पता चलाया है कि जितने पेड़-पौधे (या जितनी वनस्पति) हैं वे कार्बन डाइ ऑक्साइड को ग्रहण करते हैं और इसे आक्सीजन में परिवर्तित करके छोड़ते हैं। इसी अनुसंधान पर वैज्ञानिक तो रुका रहेगा, पर एक दार्शनिक या कल्पनाशील या कवि हृदय वाला व्यक्ति आगे बढ़ कर सोचेगा कि अवश्य ही यह एक पारस्परिक व्यवस्था है जिसके पीछे कोई मस्तिष्क है या जिसके पीछे कोई व्यवस्थापक है। अब यदि विज्ञानवेत्ता (विज्ञान सीमा में ही बंध कर या सीमित रह कर) उस दार्शनिक पर ऐतराज करे तो वह भले ही ऐतराज करता रहे। मानव के स्वभाव में कल्पना एवं आस्था का तत्त्व है इससे तो कोई वैज्ञानिक ऐतराज नहीं कर सकता, बल्कि एक खरे वैज्ञानिक को तो वैज्ञानिक अध्ययन से भी मानना पड़ेगा कि मनुष्य कल्पनाशील एवं आस्थाशील प्राणी है।

वैज्ञानिक व्यक्ति तो वही है जो हर वस्तु की प्रकृति या उसके स्वभाव-गुण को देखने से मुख नहीं मोड़ता। तो वह मनुष्य नामक इस दार्शनिक प्राणी की इस प्रकृति को या उसके स्वभाव-गुण को देखने तथा मानने से क्यों ऐतराज करता है कि मनुष्य एक भावनापूर्ण एवं कल्पनाशील प्राणी है? जो वैज्ञानिक भौतिक पदार्थों के प्रकृतिज अथवा स्वाभाविक गुण धर्म का निष्पक्ष एवं वस्तुपरक अध्ययन करता है तथा अध्ययनाधारित जानकारी को कबूल करता है, वही वैज्ञानिक मनुष्य की दार्शनिकता वाले पक्ष को क्यों नहीं देखता और उसे क्यों अस्वीकार करता है? पूर्णिमा के चांद में जो धब्बे नजर आते हैं, यदि कोई उसके वैज्ञानिक कारणों में नहीं जाकर मानव के कल्पनाशील एवं गप्पी स्वभाव के कारण चंद्रमा के किसी पाप का कलंक मान कर कोई कहानी या कविता बनाता है तो वैज्ञानिक को उस कहानी या कविता पर चिढ़ना क्यों चाहिए और उस कहानी या कविता को वैज्ञानिक आधार पर झूठी बताकर अपनी विजय का ढोल क्यों पीटना चाहिए?

बेशक वैज्ञानिक जानकारी के अनुसार पृथ्वी किसी शेषनाग पर टिकी हुई नहीं है। पर यह जानकारी तो बिल्कुल विज्ञान-सम्मत है कि मनुष्य तो अपने प्राकृतिक स्वभाव से ही कवि एवं कल्पनाशील है और कहा गया है कि 'जहां न पहुंचे रवि, वहां पहुंचे कवि', तो विज्ञान विज्ञान की जगह मान्य है और कविता एवं कल्पना भी कविता एवं कल्पना की जगह मान्य होनी चाहिए। यदि बच्चे चांद को चंदा मामा कहें और सामान्य लोग एक सर्वथा भौतिक जल प्रवाह को 'गंगा माता' कहें तथा उसकी पूजा करें तो किसी रसायन विज्ञानी या भौतिक विज्ञानी को आपत्ति और पीड़ा क्यों होनी चाहिए? विज्ञानवेत्ता के अनुसार तो हर पत्थर बस पत्थर ही है, पर मीरा के पास जो गिरधर की पाषाण प्रतिमा है, वह पत्थर नहीं है, बल्कि वह तो मीरा का प्रीतम है। तो इससे किसी भौतिक विज्ञानी को ऐतराज करने की या इसकी वजह से परेशान होने की जरूरत क्या है? इस्लाम में मूर्तिपूजन यद्यपि वर्जित है पर मक्का में जो काबा मुसलमानों के लिए पूजनीय है वह पत्थर ही है। तो इससे वैज्ञानिक लोगों को ऐतराज क्यों होना चाहिए?

तो लगता यह है कि जितना वैज्ञानिक अध्ययन वैज्ञानिकों ने भौतिक पदार्थों का तथा रसायन विज्ञान का किया, उतना वैज्ञानिक अध्ययन वैज्ञानिकों ने मनुष्य नामक प्राणी का नहीं किया। मनुष्य केवल प्रत्यक्षवादी नहीं है, वह परोक्षवादी एवं कल्पनाशील भी है। वह भावुक भी है, वह कवि भी है। और भी पता नहीं, वह क्या-क्या है। तो यदि विज्ञानवेत्ता लोग इस मनुष्य नामक प्राणी का सांगोपांग सम्यक् अध्ययन कर लेते तो उन्हें मनुष्य की रहस्यपूर्ण, अभौतिक तथा सूक्ष्म कल्पनाओं तथा आस्थाओं पर इतनी आपत्ति नहीं होती।

सबसे बड़ी समस्या यह है कि हम धर्म को या तो बुद्ध का या महावीर का, या तो ईसा का या मोहम्मद का, या तो जरतुश्त का या नानक का आविष्कार मानते हैं। पर इस भारी तथा भयानक गलतफहमी से हम जितनी जल्दी मुक्त हो सकें उतना ही संसार का भला है। धर्म तो उतना ही आदिम, पुरातन एवं सनातन है कि जितनी आदिम, पुरातन या सनातन यह सृष्टि या यह विश्व रचना है। धर्म इस सृष्टि के हर अवयव में समाया हुआ है और विज्ञान का समस्त अध्ययन तथा उसके समस्त आविष्कार प्रकृति या सृष्टि में व्याप्त धर्म (यानी वस्तु के मौलिक स्वभाव) का ही अनुसंधान है तथा उसी का सदुपयोग या दुरुपयोग है। यदि प्रकृति अथवा इस भौतिक सृष्टि के हर अवयव में अपना मौलिक नियम (यानी अपना मौलिक धर्म) नहीं पाया जाता

तो विज्ञान का यह सारा ताबूती ढांचा बिखर जाता। धर्म तो 'स्वयंभू वैश्विक नियम' (सेल्फबार्न कॉस्मिक लॉ) का नाम है। धर्म को न राम ने पैदा किया और न कृष्ण ने। मेरी नम्र सम्मति में ये राम और ये कृष्ण (तथा ये सभी तथाकथित धर्मप्रवर्तक महामानव) धर्म के विभिन्न टीकाकार अथवा व्याख्याता मात्र हैं और धर्म के जनक या आविष्कारक नहीं हैं। मेरे विचार से तो धर्म ने ही अवतारों, मसीहाओं और पैगंबरों को पैदा किया है न कि अवतारों, मसीहाओं और पैगंबरों ने धर्म को पैदा किया।

धर्म शब्द का जो मूलार्थ भारतवर्ष में हजारों वर्षों पहले था, उस अर्थ पर हमारे मानव इतिहास में समय-समय पर ग्रहण लगता चला गया। फलस्वरूप आज तो धर्म शब्द का मूलार्थ बिल्कुल विकृत या दूषित हो गया है। भारत में प्राचीन काल में धर्म का अर्थ विज्ञान ही का पर्यायवाची था। विश्व के जर्रे-जर्रे में जो अपना-अपना नियम, अपना-अपना गुण धर्म, अपनी-अपनी प्रकृति, अपना-अपना स्वभाव समाया हुआ है, वह उस जर्रे का धर्म है और वही उसका विज्ञान है। इस सृष्टि में जो एक गठन या एक व्यवस्था (जैसी तैसी भी) दृष्टिगत हो रही है, वह इस सृष्टि में व्याप्त विज्ञान पर अथवा इस सृष्टि में व्याप्त एक सनातन नियम पर (जिसे धर्म कहा जाता है उसी पर) आश्रित है। धर्म का मूलार्थ है 'व्यवस्था में बांध कर चलाने वाला'। धर्म का अर्थ है, निज-निज हिस्से की जिम्मेदारी का पालन। नीम का दायित्व नीम को निभाना है और आम का दायित्व आम को निभाना है। आग का दायित्व आग को निभाना है और जल का दायित्व जल को निभाना है। मधुमक्खी का दायित्व मधुमक्खी को और तितली का दायित्व तितली को निभाना है। मगर का दायित्व मगर को और मछली का दायित्व मछली को निभाना है। बबूल को कांटे पैदा करना है और गुलाब को फूल खिलाना है। तो धर्म में वैविध्य है। जो एक का धर्म है, वही दूसरे के लिए अधर्म या पाप हो सकता है। समाज में देखिए। एक नारी के प्रति उसके भाई का धर्म तथा उसके पति का धर्म बिल्कुल भिन्न है।

यहां मैं एक मनगढंत कहानी या गल्प और लिखना चाहता हूं ताकि धर्म का मर्म स्पष्ट करने में आसानी हो। वह गल्प या मनगढंत कल्पना यह है कि एक महर्षि को अपने तपोबल से ऐसा पूर्वज्ञान हो गया कि कुरुक्षेत्र के रणक्षेत्र में श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को गीता का दिव्य उपदेश दिया जाने वाला है। तो उसे गुप्त रूप से सुनने के लोभ में वह महर्षि एक चिड़िया बन कर उस पेड़ पर बैठ गया, जिसके पास रथ पर बैठे श्रीकृष्ण और अर्जुन के बीच गीता का संवाद हुआ। जब यह संवाद पूरा हुआ तो वह महर्षि अपने वास्तविक रूप में कृष्ण के सामने प्रकट हो गया और यों बोला कि 'हे कृष्ण, क्षमा करें मुझे इस दोष के लिए कि मैंने गुप्त रीति से आपका एवं अर्जुन का यह संवाद सुन लिया है। पर बात यह है कि, हां वास्तव में अर्जुन का पक्ष धर्मपूर्ण है और इसलिए मैं भी अर्जुन के पक्ष में (यानी कौरवों के विरुद्ध) लड़ना चाहता हूं। ऋषि बनने से पूर्व मैं शस्त्रविद्या में निपुण था। अतः मेरे सहयोग से पांडवों को लाभ होगा। मैं पांडवों को अपनी सहायता एवं सहयोग देना चाहता हूं।' इस पर कृष्ण ने कहा—'तुमने गोपनीयता से हमारा संवाद सुनकर तो पाप किया ही है, पर तुमने मेरे उपदेश को भी गलत समझा है। अर्जुन के धर्म में और तुम्हारे धर्म में अंतर है। अर्जुन ने समाज में क्षत्रियत्व का दायित्व ले रखा है और तुमने समाज में ऋषित्व का दायित्व ले रखा है। धर्मयुद्ध तो अर्जुन का स्वधर्म है और धर्मोपदेश तुम्हारा स्वधर्म है। इसलिए तुम चले जाओ और धर्मोपदेश का स्वधर्म निभाओ वरना तुम 'स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापं अवाप्स्यति' (स्वधर्म का उल्लंघन तथा स्वकीर्ति का लोप करके पाप के भागी बनोगे।) तो धर्म देशकाल एवं पात्र के संदर्भ में हर व्यक्ति का अलग-अलग है। धर्म की मांग यह है कि हर व्यक्ति अपने अंगीकृत धंधे द्वारा समाज, प्रकृति तथा ईमान के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह करे।

धर्म इहलौकिक आवश्यकता है। मेवाड़ी बोली में ये दो पंक्तियां देखिए—

'यदिकर्ममय जीवन न व्है, तो धर्म आवश्यक नहीं।
है मूल उद्गम धर्म रो, पर लोक नीं, इह लोक ही।।'

मुश्किल सारी यों हो गई है कि अध्यात्म अलग नहीं रहा, पूजा-पाठ अलग नहीं रहा, दर्शन अलग नहीं रहा, धर्म अलग नहीं रहा और संप्रदाय अलग नहीं रहा। धर्म के छत्र के नीचे ये सब एकत्र होकर मिल-जुल गए। नतीजा यह हुआ कि धर्म का वास्तविक रूप यानी उसका वैज्ञानिक एवं इहलौकिक रूप ओझल हो गया। अध्यात्म, दर्शनशास्त्र, पूजा-पाठ पद्धति एवं संप्रदाय का किसी अंश में धर्म पर प्रभाव पड़ सकता है, पर यदि हम इन चारों को थोड़ा अलग-अलग रख सकें तो धर्म का यह तामझामी रूप जो कि हमें धर्म को ठीक से समझने तथा पालन करने नहीं दे रहा है वह छंट सकेगा और तब धर्म एवं विज्ञान के बीच की जो खाई आज बहुत बढ़ गई है, पाटी जा सकेगी। ❖

वे लोग जो समझते हैं कि विज्ञान को समानता, इंसाफ, संगठन बनाने, स्वास्थ्य और साफ-सुथरा वातावरण रखने में भी उपयोग किया जा सकता है, उन्हें उन वैज्ञानिक अनुसंधान और तकनीकी तरक्कियों के विरुद्ध अवश्य इकट्ठे हो जाना चाहिए जो उपरोक्त मूल्यों के खिलाफ पड़ती हैं। विज्ञान व तकनॉलोजी का प्रयोग शोषण या विनाश दोनों में से किसी के लिए भी करना ठीक नहीं।

विज्ञान का दुरुपयोग क्यों

डॉ. रश्मि मयूर

एक लंबे समय से हम यही सुनते आ रहे हैं कि इस तकनीकी विज्ञान के युग में, विज्ञान हमें सत्य को खोज लेने में सहायता देगा और तब हम उन तकलीफों व व्याधियों से चिरसदा के लिए मुक्त हो जाएंगे जो मनुष्य जगत को अब तक घेरे रही हैं। जैसे कि पर्यावरण की समस्याएं, आबादी का बढ़ना और कमरतोड़ गरीबी अपने आप भाग जाएगी और विनाशकारी सैन्यशक्ति, अतिभयंकरता से काटे जा रहे वन-वनस्पति, बढ़ रही बीमारियां, अज्ञान, बेइंसाफी, रक्तपिस्सू जुल्म व अन्य अनगिनत बढ़ती खामियों से छुटकारा मिल जाएगा, परंतु इन सबका तो ठीक उल्टा ही आज का सत्य है। विश्व में आज अधिक जटिल व 'स्मारकीय' समस्याएं हैं, जितनी कि पहले तो कभी नहीं थी और अब ऐसा महसूस हो चुका है कि विज्ञान के प्रति बनी यह धारणा कि 'विज्ञान तो पक्षपातरहित तरीके से प्रकृति के नियमों को खोजने का जरिया है', टूट चुकी है, क्योंकि इसी धारणा को भ्रामक तरीकों से बनाए रखकर विज्ञान ने मानवता से आंखमिचौली खेली है। अब यह हमारी जिम्मेदारी है कि इस भ्रांति का मुकाबला करें। विज्ञान की खोज में सत्यता, यथार्थता के कोई भी नियम क्यों न बंधे रहते हों, किंतु इसके मूल में और इस्तेमाल में अमानवीय मूल्यों व मानवीय 'पालिटिक्स' का गठजोड़ है। विज्ञान अपने आप ही यह निर्धारित नहीं कर सकता कि वह स्वयं 'निष्कलंक' है, तो वैज्ञानिक लोग भी उन्हीं मूल्यों को बढ़ावा देंगे और विज्ञान के नियमों का प्रयोग तब-तब विपरीत हो जाएगा।

विज्ञान की जानकारी से उत्पन्न हुई 'टेक्नॉलोजी' के बारे में अक्सर कहा जाता है कि पिछले 300 वर्षों से इसने दुनिया का नक्शा ही बदल दिया। जे.डी. ब्रनाल कहा करते थे, तकनॉलोजी ने औद्योगिक क्रांतियों द्वारा हमारी भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करने में सहायता की है, जिससे कि हम अब कला, संस्कृति व काव्य की ऊंचाइयों को छू सकते हैं।

किंतु सत्य इसके विपरीत है। विज्ञान की भ्रांति अब टूट गई है। विश्व के 50 प्रतिशत वैज्ञानिक युद्धकालीन उद्योग-धंधों में जुटे हैं जबकि विश्व के दस खरब से भी अधिक डॉलर प्रतिवर्ष सैनिकता, युद्धों और सैनिक अनुसंधान में ही खर्च हो जाते हैं।

हमें बताया जाता है कि यूरोप में खाद्य सामग्री बाढ़ की तरह बढ़ रही है, मक्खन का ढेर लगा है, नदियों में दूध बह रहा है और अनाज के भंडार अटे जा रहे हैं। दिसंबर, 1988 में यूरोपवासियों ने 20 लाख गायों के वध का निर्णय लिया, जिससे कि डेयरी बाजार में आई बाढ़ को रोका जा सके। यह सब वहाँ तब हो रहा है जबकि अफ्रीका, एशिया व लेटिन अमरीका के लोग प्रतिदिन 1500 कैलोरी खाद्य सामग्री भी प्राप्त नहीं कर पाते, किंतु जी रहे हैं।

संचार तकनीकी का विस्तार इतना हो चुका है कि हम कोई भी दृश्य सेटेलाइट द्वारा एक मिनट में भेज सकते हैं, तो भी 65 प्रतिशत लोग भारत में पढ़-लिख भी नहीं सकते। ज्ञान-विज्ञान तकनॉलोजी या यांत्रिकता की होड़ में जुटना तो दूर रहा।

हवाई जहाज द्वारा हम ध्वनि की गति से भी अधिक तेजी से उड़ सकते हैं, किंतु हमारे शहरों में करोड़ों लोग अपने काम तक पहुंचने के लिए मृत्यु तक को हर रोज सर पर ढोते हैं। केवल मुंबई में ही लगभग 10 लाख नागरिक यातायात के साधनों की तकलीफें प्रतिदिन सहते हैं।

सत्य तो यह है कि कई एक ऐसे उदाहरण हैं जहां विज्ञान व तकनॉलोजी ने सीधे-साधे लोगों की तकलीफें बढ़ाई हैं और इस ग्रह को प्राकृतिक अनुभूति से वंचित किया है। यातायात के साधन शहरी केंद्रों के वातावरण को प्रदूषित करने में प्रमुख दोषी हैं।

काफी संख्या में अन्न, खाद्य सामग्री व दवाइयां मानवता की शारीरिक व्याधियों की जिम्मेवार है—अत्यधिक उपचार किए गए खाद्य पदार्थ खाद्य जहरों से लदे हैं, जैसे सोडियम नाइट्रेट, जिससे मांस को सड़ने से बचाया जाता है और पी.सी.बी. जिसे मुर्गी के चूजों को जल्दी बढ़ने के लिए खिलाते हैं, कैंसर पैदा करते हैं। सेक्रीन, जिसे मिठास लाने में प्रयुक्त करते हैं और मोनोसोडियम ग्लूटामेट, जिससे स्वाद को बढ़ाया जाता है, भी कैंसर फैलाते हैं। अधिकतर दवाइयां तो केवल बाहरी दिखावे भर के उपचार के लिए हैं जबकि उनके कितने ही अनिश्चित उप-प्रभाव हैं जो मुसीबत और द्रुत गति से मृत्यु के निकट ले जाते हैं।

जल विज्ञान में की गई सभी वैज्ञानिक व तकनीकी उपलब्धियों के बावजूद, तीसरी दुनिया के लोगों को काफी मात्रा में साफ-सुथरा पीने योग्य जल भी अभी उपलब्ध नहीं हो पाता।

हालांकि प्रजनन विज्ञान में हमारी गहरी जानकारी हो गई है, फिर भी हम बढ़ती हुई जनसंख्या को घटने से ही नहीं रोक पाए, जिसका 90 प्रतिशत तो तीसरी दुनिया में बढ़ेगा और कोई 1.8 करोड़ तो केवल भारत में ही।

अब नारियों के सेरोगेट भ्रूण धारण करने के विषय में बात ही क्या करें, जिसमें नारी से उसकी कोख किराए पर ले ली जाती है, जिससे कि किसी और के भ्रूण को जन्म देने के लिए धारण कर लिया जाता है। और क्या कहें उस बारे में जब शारीरिक विज्ञान का उपयोग निर्दयता से कन्या भ्रूणों को गर्भ अवस्था में ही समाप्त करने में किया जाता है।

विज्ञान और तकनॉलोजी के दुरुपयोग को बहुत समय पहले से जब पहचान चुके हैं और वे सब जो समझते हैं, कि ये सब विश्वव्यापी चुनौतियां हैं जो विज्ञान हमें दे रहा है, उन्हें विज्ञान व समाज की अंतरिमता को नए सिरे से ठीक करने का उपक्रम करना ही चाहिए। आखिर विज्ञान व तकनॉलोजी सामाजिक सुधार के साधनों, वातावरण के बचाव और सबकी जिंदगी की दशा सुधारने से अधिक और किस काम आ सकती है जो सबको हितदायी हो। बस यही वह स्थान है जहां पूरे विश्व के लोगों के सहयोग की आवश्यकता है। जिनको जानकारी है अवश्य ही यह परखें और ठीक-ठीक समझें कि मानवता के लिए क्या हितकारी है, और क्या नहीं। सैन्य शक्ति के सुधार के लिए या जीवन विज्ञान और वांशिकी-युद्ध (जैनेटिक वारफ्रेअर) या वातावरण को दूषित करने वाले सभी 'केमिकल' पदार्थों पर हो रहा अनुसंधान बंद होना ही चाहिए।

अनुसंधान व उसके उपभोग में जुटी हुई प्राथमिकताओं को हमें ठीक से निर्देशित करना चाहिए, जिससे कि मानवता की भुखमरी, हैजे, अंधापन, निरक्षरता, सामाजिक व राजनैतिक कारणों से हुए झगड़ों को, गंदी बस्तियों को व पर्यावरण आदि का उपचार हो सके।

लोगों को विज्ञान व तकनॉलोजी की प्रत्येक सतह की पहले की शिक्षा देनी चाहिए जिससे कि वे लोग अपनी आवश्यकताओं को पूरा भी कर सकें और विज्ञान की नीतियों को प्रभावित कर सकें। विज्ञान की दैनिक शक्ति के प्रति बनी धारणाओं को भी दूर करना जरूरी है। पूरे विश्व में वैज्ञानिक जानकारी की साझेदारी व प्रयोग में साथ मिलकर कठिनाइयों का सामना करने की धारणा बननी चाहिए।

वे लोग जो समझते हैं कि विज्ञान को समानता, इंसाफ, संगठन बनाने, स्वास्थ्य और साफ-सुथरा वातावरण रखने में भी उपयोग किया जा सकता है, उन्हें उन वैज्ञानिक अनुसंधान और तकनीकी तरक्कियों के विरुद्ध अवश्य इकट्ठे हो जाना चाहिए जो उपरोक्त मूल्यों के खिलाफ पड़ती हैं। विज्ञान व तकनॉलोजी का प्रयोग शोषण या विनाश, दोनों में से किसी के लिए भी करना ठीक नहीं।

हमें ग्रामीण व आदिवासी लोगों की वैज्ञानिक जानकारी को भी ठीक-ठाक से सीखना चाहिए जिससे कि हम समूचे विज्ञान का मानवता की भलाई के लिए प्रयोग कर सकें।

यह जो विशिष्ट वर्गपरक शोषण और दमघोटू विज्ञान का व तकनीकी जानकारी का युग वर्तमानकाल में चल रहा है, हमें और अधिक युद्धों, तकलीफों, दूषित पर्यावरण और बीमारियों की ओर ले जाएगा। विज्ञान की उपयोगिता तो बहुत है, परंतु चिरस्थायी नहीं। हम लोगों को एक ऐसा अभियान छेड़ना होगा जो विज्ञान को पूरे विश्व के लिए उपयोग में ला सके और लोगों की भलाई हो सके। इसका अर्थ यह है कि सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक संस्थाओं

का फिर से संगठन होना चाहिए, जिससे कि लोग निर्णय ले सकने की सतह पर भी अधिकार कर पाएं। सर्वसाधारण को मसोस-मसोस कर शोषण के लिए उपयोगितावाद के हाथ में दे देना ठीक नहीं, क्योंकि उपयोगितावाद तो उन लोगों द्वारा संचालित है जिनके लिए अतिलाभ उठाना, शोषण प्रणाली को कायम रखना और लोभवश पूरे विश्व को अपनी दूकानदारी बना लेना और विज्ञान व तकनॉलोजी को अतिलाभ का साधन बना लेना ही एक ध्येय है। जनसाधारण का लाभ कहां होगा इसकी तो लोग स्वयं ही देखभाल कर सकते हैं।

उन्हें जिन्हें विश्व में शांति और समानता देखनी ही है, वे प्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ. लियो सजीलॉर्ड (एटम बंब निर्माताओं में से एक) से सीख ले सकते हैं, जिसने विज्ञान की दिशा में अपनी प्रत्येक गतिविधि बंद करके अपना जीवन विश्व के कल्याण हित अर्पित कर दिया। विज्ञान आज दोहरा रूप लेकर चौराहे पर खड़ा है। भलाई के कार्यों के लिए भावी विज्ञान की धारा का निर्णय लेना व प्रत्येक मानव के लिए प्रचुर मात्रा में प्रचुरताएं इस प्रकार जुटा देना कि प्रत्येक मानव भूतकालीन मनोवृत्तियों से उपजी आज की मुसीबतों से उबरकर जीवन को नए सिरे से ढाल सकें, यही विज्ञान की शक्तियों का नवीनतम उपयोग हो सकता है। ऐसे विज्ञान को ही सर्वसाधारण का विज्ञान कहा जा सकेगा जो जनकल्याण के कार्यों में जुट सके, तभी हमारा कुछ भविष्य विज्ञान से बन सकेगा।

अनुवाद : **विनोद सेठ**

❖

क्रोध को जीतने का सहज उपाय

भूदान-यज्ञ के दिनों की बात है। विनोबा जी की पद-यात्रा उत्तर प्रदेश में चल रही थी। उनके साथ बहुत थोड़े लोग थे। मीरा बहन के आश्रम 'पशुलोक' से हम हरिद्वार आ रहे थे। विनोबा जी की कमर और पैर में चोट लगी थी। उन्हें कुर्सी पर ले जाया जाता था, पर बीच-बीच में वे कुर्सी से उतरकर पैदल चलने लगते थे।

उस दिन जब वे पैदल चल रहे थे तो एक भाई उनके पास आकर बोले, 'बाबा, मुझे गुस्सा बहुत आता है। कैसे दूर करूं?'

विनोबा जी ने कहा, 'बचपन में मुझे भी बहुत गुस्सा आता था। मैं अपने पास मिश्री रखता था। जैसे ही गुस्सा आया कि मिश्री का एक टुकड़ा मुंह में डाल लिया। गुस्सा काबू में आ जाता था।

'लेकिन कभी-कभी ऐसा भी होता था कि गुस्सा आ जाता था और मिश्री पास में नहीं होती थी...!'

'तब आप क्या करते थे?' उस भाई ने उत्सुकता से पूछा।

विनोबा जी ने कहा, 'तब मैंने सोचा कि ऐसे समय क्या किया जाए? सोचते-सोचते एक बात ध्यान में आई। जब हमारे मन के प्रतिकूल कोई चीज आती है तो हम एकदम उत्तेजित होते हैं। यदि पहले क्षण को हम टाल जाएं तो गुस्से को सहज ही जीत सकते हैं। हर्ष और विषाद से हम तभी अभिभूत होते हैं, जबकि उनका पहला क्षण हम पर हावी हो जाता है। उस क्षण को टालना शुरू में थोड़ा कठिन होता है, लेकिन अभ्यास से वह बहुत आसान हो जाता है।'

'नैतिक कथाएं' से

चादर

हजारों वर्ष पहले की बात है—अरब में एक छोटी-सी रियासत थी, जिसका क्षेत्रफल पांच मील के बराबर था, मगर इसमें रहने वाले कुल दो हजार आदमी थे। इससे बादशाह का खर्चा न चलता था।

बादशाह का खर्चा चले तो कैसे चले। लोगों पर खूब टैक्स लगाए गए मगर उनसे काम न चला। क्योंकि आखिर उसे फौज तो रखनी ही पड़ती थी। यह अलग बात थी कि फौज में तीन सौ ही आदमी थे। थी तो फौज ही। हुकूमत चलाने के लिए काजी, जज और अफसर भी रहते थे। न रहें तो हुकूमत कैसे चले। वजीर भी होते थे, न होते तो बादशाही कैसी? कौन उसे बादशाह मानता। और इस सब पर जो खर्चा आता था वह किसी तरह टैक्स से पूरा न हो पाता था। इसलिए बड़े सोच-विचार के बाद उसने एक रास्ता निकाल लिया। उन दिनों दुनिया के किसी भी मुल्क में किसी भी तरह का जुआ खेलना मना था। पूरी पाबंदी थी। मगर मरता क्या न करता...बादशाह की शान मिट्टी में मिलने की बात थी इसलिए इस बादशाह ने अपने छोटे-से पांच मील के राज्य में जुआघर बनवा दिया और उस पर सेना के कुछ आदमी नाल लेने लगे। कोई भी हारे या जीते, नाल जरूर ली जाती और इस तरह से राज्य का खर्चा चलता। कुछ बच भी जाता जो समय पर काम आता रहता। ऐसी बात न थी कि बादशाह जुए को अच्छा समझता हो। वह उसे बहुत बुरी नजर से देखता था, मगर मजबूर था। और इसी मजबूरी में उसने जुआघर चालू कर रखा था।

दुनिया के बड़े-बड़े जौहरी, बादशाहों के बेटे चोरी छिपे यहां जुआ खेलने आते थे। मगर सिर्फ जुआ ही होता था और जुए से होने वाले ऐबों पर सख्त पाबंदी थी। इस तरह राज्य चल रहा था...लोग अमन-चैन से जिंदगी बसर कर रहे थे कि एक दिन अचानक दो आदमियों में झगड़ा हो गया किसी बात पर, और एक आदमी ने दूसरे को जान से मार दिया। पुलिस ने उस आदमी को पकड़ लिया और अदालत में पेश कर दिया। जजों ने एक राय से उसे खून के बदले खून की सजा दी और ऐसा ही कानून उन दिनों दुनिया के मुल्कों में चलता था।

अब समस्या पैदा हुई इस खूनी का खून किस तरह किया जाए। फ्रांस के बादशाह को खत लिखा गया कि हमें एक ऐसी मशीन की जरूरत है जिससे लोगों की जान ली जा सकती हो। वहां से जवाब मिला—'ऐसी मशीन बीस हजार रुपये की मिलेगी। चाहो तो खरीद लो।' छोटी-सी रियासत के पास बीस हजार कहां से आए? मुश्किल से तो जुआ वगैरह की नाल से बादशाह, वजीरों, सेना और सरकारी अफसरों का खर्चा चलता था। बादशाह ने फिर स्पेन के राजा को पत्र लिखा कि हमें इंसान की जान लेने वाली मशीन की जरूरत है। वहां से खबर आई कि ऐसी मशीन की कीमत पंद्रह हजार रुपये की है। इस तरह न रुपये जुट पाए न मशीन खरीदी गई।

तय हुआ कि किसी फौजी से इसे कत्ल करा दिया जाए। मगर कोई भी उसे कत्ल करने को राजी न हुआ और इस तरह से एक परेशानी बढ़ गई। राज्य के अफसरों की मीटिंग बुलाई गई और उसमें सोचा गया कि खूनी का क्या किया जाए? सब एक नतीजे पर पहुंचे कि इसे जेल में रखा जाए। मगर जेल के नाम पर बस एक कोठरी थी। उसी में उसे बंद रखा गया, एक सिपाही का पहरा लगा दिया गया। बादशाह के लंगर में से वह सिपाही उसे खाना ला दिया करता था और इस तरह से एक साल बीत गया। बादशाह ने हिसाब लगाया, उस कैदी पर आठ सौ रुपये खर्च हो गए। इतना बड़ा खर्चा भी रियासत उठा नहीं सकती थी। फिर मीटिंग बुलाई गई और हालत बताई गई। तय हुआ कि उस खूनी से कहा जाए कि वह कहीं भाग जाए या खुद कोई काम करे। मगर जब उससे कहा गया तो उसने साफ कह दिया—'मैं खूनी हूं भाग नहीं सकता और साल भर तक बेकार पड़े-पड़े मेरे हाथ-पैर बेकार हो गए हैं, मैं कोई भी काम नहीं कर सकता।'

इससे तो मसला सुलझने के बजाय और उलझ गया। आखिर फिर मीटिंग बुलाई गई और बादशाह ने साफ कह दिया—'वह खूनी तो मुल्क के लिए जंजाल बन गया है। जैसे भी हो इससे पीछा छुड़ा लिया जाए।' और नतीजे के तौर पर उस खूनी को बुलाया। बहुत समझाया पर ऐसा कोई रास्ता न निकला जिससे राज्य को उससे छुटकारा मिल जाता। इस पर तय हुआ कि उस खूनी को रिहा कर दिया जाए और हर साल उसे सवा सौ रुपया पेंशन दी जाए, बाकी खर्चे के लिए वह खुद कमाए।' कैदी ने बात मान ली और उसी वक्त दूसरे मुल्क में चला गया। मगर जब तक वह जीवित रहा, उसे सवा सौ रुपया साल की पेंशन मिलती रही। पर दूसरी हुकूमत में उसने कोई खून न किया।

सच है किसी को उतने ही पैर फैलाने चाहिए जितनी चादर हो। बाह्य आडंबर बिल्कुल बेकार होता है।

—लेव टॉलस्टॉय

अनुभूति

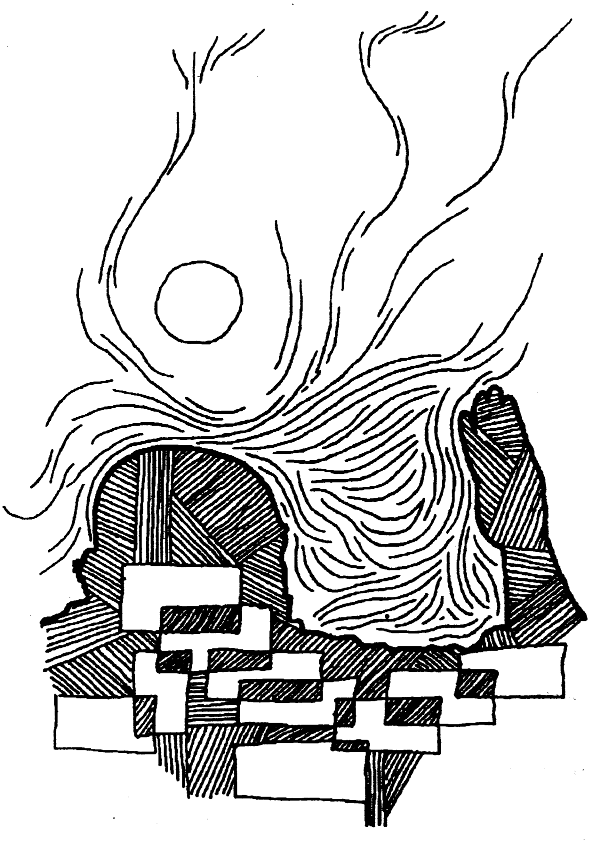

एक दिन चंद सूफियों को राबिया (सूफी साधिका) मिली। वह दौड़ रही थी और एक हाथ में आग और दूसरे में पानी लिए हुए थी। उन सूफियों ने उससे कहा : 'ओ आगामी संसार की देवी! तुम कहां जा रही हो तथा जो एक हाथ में आग और दूसरे में पानी लिए हो, इसका क्या मतलब है?' उसने उत्तर दिया : 'मैं बहिश्त में आग लगाने और दोजख को जलमग्न करने जा रही हूं, जिससे ये दोनों पर्दे धर्मसाधकों की आंखों के सामने से हट जायं और उन्हें उनका लक्ष्य ज्ञात रहे, और खुदा के बंदे उसे बिना किसी आशा और भय के देख सकें।'

'मर्यादा महोत्सव' तेरापंथ का सर्वोच्च पर्व है। कोई 44 वर्ष पूर्व आचार्यश्री तुलसी ने इस पर्व पर चतुर्विध संघ को जो उद्‌बोधन दिया था, आज वह फिर सामयिक-सा लगता है। तेरापंथ ने अपने उत्थान के जो चरण तब उठाए थे, आज उनकी परिणति सबके सामने है। तेरापंथ आज जो कदम उठाना चाहता है, उसकी परिणति भी उतनी ही फलदायी हो, चतुर्विध संघ की यह स्वाभाविक अभीप्सा होगी। अतः आचार्यश्री तुलसी का तब का कहा न केवल प्रासंगिक ही है, प्रेरक भी है। प्रस्तुत है 44 वर्ष पूर्व इस पर्व पर कहे उनके विचार—

संघ का अनुशासन

आचार्यश्री तुलसी

स्वामी भीखणजी (तेरापंथ आद्य प्रवर्तक) का गण एक नीतिमान गण है। इसकी महान शक्ति का मूल आस्था है। तत्त्व यह है कि एक आचार्य की दृष्टि में सबको संतोष है। जो कार्य आस्था से बनने का होता है, वह तर्क की धारा से नहीं बनता। इसलिए आचार्य भिक्षु ने लिखा है : 'श्रद्धा का, आचार का या कल्प का कोई नया बोल निकले वह समझ में आए तो समझे। अगर समझ में न आए तो आचार्य पर छोड़ दे। खींचातानी ठीक नहीं।'

सहज प्रश्न होता है—आत्मा को संतोष न हो तब कैसे बने? यह ठीक है कि आत्म-संतोष होना चाहिए। स्वामीजी ने जो मार्ग दिखाया है और मैं जिस मार्ग की ओर संकेत कर रहा हूं, वह आत्म-संतोष का ही मार्ग है। साधकों के लिए समझ गौण है, श्रद्धा मुख्य। अतीत में ऐसे अनेक प्रश्न आए, जो हमारे सन्मार्गी, न्यायी, विवेकी और गुण के हितेच्छु साधुओं द्वारा सुलझाए गए और आज भी सुलझाए जाते हैं। मैं नहीं कह सकता वे सबकी समझ में आए हैं, सबके ज्ञान में आए हैं किंतु मैं कह सकता हूं कि वे सबकी श्रद्धा में आए हैं।

इन दिनों कई बोल चले, सिद्धांत के आधार पर चले। लोग जानते हैं कि बोल चल रहे हैं। क्या चले, यह जानने को लोग इच्छुक हैं। मुझे भी उन्हें छिपाना नहीं है। जो सबके सामने रखना है, वह रखना ही चाहिए।

कुछेक बातों को लेकर कुछेक लोग व्यर्थ का बवंडर खड़ा करते हैं। मैं उन्हें सावधान किए देता हूं कि वे किसी भुलावे में न आएं। भिक्षु-शासन के साधु विनयी, श्रद्धालु, आचारी, भक्त और आत्म-भीरु हैं। उनमें श्रद्धा का महान गुण है। पुराने लोगों में तो इतनी बलवती श्रद्धा है कि नयों को उनसे वर्षों तक सीखनी है।

कई बेसमझ लोग बेबुनियादी बातें करते हैं—अमुक साधु अनशन कर देंगे, यह कर देंगे, वह कर देंगे आदि-आदि। मैं नहीं समझता कि क्या अनशन कोई तमाशा है। अनशन हुए हैं और होंगे। शासन ने उन्हें सहयोग दिया है और देगा। किंतु कुछ बात ध्यान में न आए तब अनशन कर दे, यह बात भिक्षु शासन में होने की नहीं है। कोई ऐसा सपना ही न ले। जब नीति में विश्वास है, तब अनशन करना गलत है। स्वामीजी ने अनशन की व्यवस्था की है, पर उस हालत में जबकि 'कदाच टोला मांहे दोष सरधै तो टोला मांहे रहणो नहीं। एकलो होय नै संलेखना करणी।'

इधर कई बातों पर विचार-मंथन चल रहा है। जिनके कुछ विचार थे, उन्होंने अपने विचार रखें। मैंने सबके विचार सुने और स्पष्टीकरण भी किए। वे सबके ध्यान में आ ही जाए या आ ही गए, यह मैं नहीं कह सकता, चेष्टा यही है कि आ जाएं। श्रद्धा में अवश्य आए हैं, इसमें कोई संदेह नहीं।

कई विषय चर्चित रहे। उनमें लोकगम्य सिर्फ दो-चार बातें हैं बाकी के विषय गहरे हैं। जो सरल बातें हैं और जिनके

बारे में लोग जानने को उत्सुक हैं, उनमें पहली चीज है लाउड-स्पीकर। गृहस्थ अपनी आवश्यकता के लिए साधुओं के सामने लाउड स्पीकर का प्रयोग करें, यह उनकी अपनी इच्छा है। साधुओं की इसमें किंचित् भी प्रेरणा या भावना नहीं होनी चाहिए। प्रेरणा हो तो साधु को दोष लगे। साधु मन, वचन और शरीर से उसमें शामिल न हो तो उसे दोष नहीं लगता। अब रही बात उसके निषेध की। निषेध करना चाहिए या नहीं, यह तो अवसर पर निर्भर है। प्रश्न यह है कि निषेध करना जरूरी है क्या? निषेध न करे तो दोष लगे, यह सिद्धांत नहीं है। श्रावकों को भी चाहिए कि वे व्यर्थ की हिंसा से बचें।

पारमार्थिक शिक्षण संस्था के बारे में मैं क्या कहूं। इससे हमारा वही संबंध है जो श्रावक संघ से है। दीक्षार्थियों की परीक्षा हम पहले ही से करते थे और अब भी करते हैं। दीक्षा संस्था में नहीं रहने वालों की भी होती है और रहने वालों की भी। संस्था में कोई दीक्षार्थी रहे या न रहे, हमें उससे कोई सरोकार नहीं। और क्या श्रावक संस्था चलाएं तो उनकी इच्छा न चलाएं तो उनकी इच्छा। हमसे संबंध जोड़ने की जरूरत ही क्या?

अणुव्रती संघ के बारे में भी कुछ बताऊं। यह संघ त्याग और नियमों का संघ है। इसकी निरवद्य प्रवृत्तियों का संचालन मेरे जिम्मे है। अणुव्रत समिति की प्रचारात्मक प्रवृत्तियां मेरी प्रेरणा से नहीं चलतीं और न उनसे मेरा कोई संबंध है। गृहस्थों को भी साधुओं के समक्ष सावद्य बातें नहीं चलानी चाहिएं।

जुगुप्सनीय कुल की बस्ती में, जहां हाड़-मांस आदि घृणित वस्तुएं बिखरी हुई न हों, वहां व्याख्यान देने में कोई आपत्ति नहीं है। वाद-विवाद बढ़ाने की प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए।

साधुओं के फोटो लेने की प्रथा ठीक नहीं। साधु फोटो लिवाने में तत्पर न हो तो साधु को दोष नहीं लगता। फिर भी साधुओं को इसके निषेध की परिपाटी रखनी चाहिए। यह उचित है।

स्वामीजी ने गृहस्थ को 'संदेशा' देने की मनाही की है। यहां 'संदेशा' का अर्थ समाचार है। साधु को गृहस्थ के द्वारा समाचार नहीं पहुंचाने चाहिए जैसा कि उन्होंने लिखा है :

'गृहस्थ साथ कहै संदेशो, तो भेलो हुवै संभोगजी।
तिणनें साधु किम सरधीजै, लाग्यो जोगनें रोगजी।।
समाचार विवरा सुधि कहि कहि, सानी कर गृहस्थ बुलायजी।
कागद लिखावै कहि आमना, पर हाथ देवै चलायजी।।

वर्तमान में जो संदेश दिया जाता है, उसका मतलब समाचार नहीं है। वह धर्मोपदेश या धार्मिक विचार है। हमारे विचार जो व्यक्ति जानना चाहते हैं, उन्हें या उनके द्वारा प्रेरित अन्य व्यक्ति को हम बताते हैं और यह बताना बिल्कुल सही है—निरवद्य है।

धारण-प्रणाली अनुश्रुति के अनुसार स्वामीजी के समय से चली आ रही है। जयाचार्य के समय में भी चालू थी। यह परंपरा से पुष्ट और शास्त्र से प्रमाणित है। मुझे भी निरवद्य लगती है। इसी के आधार पर चालू की गई नवीन धारणा-प्रणाली भी निरवद्य है। दोनों निषेधात्मक हैं, फर्क सिर्फ इतना-सा है—पुरानी में स्थानांतर है और नई में पुरुषांतर। किसी को दोनों सावद्य लगें और किसी को पुरानी निरवद्य और नवीन सावद्य लगे तो? इसलिए स्पष्टीकरण की आवश्यकता है। आचार्य को सावद्य नहीं लगती, वह सावद्य नहीं है। सिद्धांत सामने है—दो साधु दोष सेवन कर आए। उनमें एक प्रायश्चित्त लेता है, दूसरा स्वीकार ही नहीं करता। उस दशा में आचार्य क्या करे? स्वीकार हो, उसे प्रायश्चित्त दे और जो स्वीकार न करे, उसे दंड नहीं दे सकते। संदेह हो तो संघ से पृथक् कर सकते हैं। विश्वास होने पर संघ में रखें तो दूसरा उसे साधु ही समझेगा। कारण साफ है—आचार्य पर उसकी श्रद्धा है इसलिए। इसमें जबर्दस्ती नहीं कि जो बात अपनी बुद्धि में सावद्य जंचे, उसे बलात् निरवद्य माननी पड़े। किंतु अपनी बुद्धि को छोड़ जहां श्रद्धा पर चलना होता है वहां ऐसा होता है। टीकमचन्दजी छाजेड़ ने मघवागणी से कहा कि मैं अमुक को असाधु नहीं कह सकता। लोग मुझसे पूछते हैं कि तुम अमुक को क्या समझते हो, तब मैं क्या कहूं? मघवागणी ने कहा—'जो महाराज समझते हैं, वही मैं भी समझता हूं।' उन्होंने वही किया। सारी समस्या टल गई।

कोई किसी को समझा सके या न समझा सके सीधा उत्तर यह है कि हम इनमें वही मानते हैं, जो आचार्य मानते हैं।

मैं कह आया हूं कि नई धारणा प्रणाली भी निरवद्य है। फिर भी उसे निरवद्य समझता हुआ भी मैं कम से कम छह मास के लिए स्थगित करता हूं। इसके दो कारण हैं—आत्म-संतोष और चिंतन। मैं चाहता हूं कि प्रत्येक को आत्म-संतोष मिले और अंतरवर्ती काल में चिंतन-मंथन का भी मौका मिले।

स्वामीजी ने गृहस्थ को पन्ना देने का उस हालत में निषेध किया है, जबकि गृहस्थ साधु के पन्ने से देख कर सीधा लिखे। जैसा कि उन्होंने लिखा है :

गृहस्थ नें लिखावै बोल थोकड़ा, आप तणो पानो दै उतारण ताय कै।
ते उतारे छै पानो देखनै, इण दोष री विकला नें खबर न कायकै।।

पहले करण लिख्या मैं पाप छै, तो लिखाया हुसी निश्चय पाप कै।
तिण में निन्हव जाणै धर्म छै, त्यां जिन वचन दिया छै उथापकै।।

यहां स्वामीजी ने गृहस्थ साधु के पन्ने से सीख कर लिखा, उस हालत में पन्ना दिए जाने पर दोष नहीं बताया है। गृहस्थ साधु के पन्ने से सीधा लिखने के लिए वह ले और साधु उसे दे, उसे सदोष कार्य बताया है। गृहस्थ साधु के पास से लिखने के लिए पन्ना नहीं लेता, वह सीखने के लिए लेता है। सीखने के बाद लिखता है, यह उसकी सुविधा है।

मैं गृहस्थों को चेतावनी देता हूं कि वे साधुओं की पंचायत करने की व्यर्थ चेष्टा न करें। हमारे विनयी, उन्नत, श्रद्धालु और अनुशासित साधु-समाज को इसकी कोई अपेक्षा नहीं है।

साधु-समाज की नीति शुद्ध है, उद्देश्य शुद्ध है। क्रिया में कोई भूल हो सकती है फिर भी लक्ष्य गलत नहीं है। भिक्षु शासन की उन्नति की रीढ़ यही है कि सब साधु गुरु के एक शब्द पर झूमते हैं, नाना प्रकार के कष्ट सहते हैं, जीवन झोंक देते हैं। परम प्रसन्न और परम सुखी हैं। संतोष नहीं तब सुख कैसे? फिर भूल! संतोष हो गया। गुरु की वाणी पर इन्हें संतोष है। कहना इनका काम है, सुनना मेरा। ये कहते रहेंगे, मैं सुनता रहूंगा। कहने वाले थकेंगे, मैं नहीं थकूंगा।

दस दिन तक बोल चले। रात को नींद 'खोटी' की। 'खोटी' नहीं 'चोखी' की। स्वामीजी समूची रात गालते थे। हमने दो-दो तीन-तीन घंटे गाले, इसमें क्या बात है। ठीक है शरीर की वैसी मजबूती नहीं, किंतु रजपूती तो वही है। मुझे कोई भार नहीं, प्रसन्नता है। पूछने की जो स्वतंत्रता स्वामीजी ने दी है, वह छीनी नहीं जा सकती और न मैं उसे छीनना ही चाहता हूं। अनुशासन का ध्यान सबको रखना भी चाहिए और उसे मैं भी ढीला नहीं कर सकता। यह गण के हित के लिए है। गण और गणी का एक संबंध है। गण से गणी आगे हैं। गणी के दिल में गण के साधु के प्रति अन्य भावना हो ही नहीं सकती। हो जाए तो फिर बस ही समझो।

अब मैं कुछ श्रावक-समाज से भी कह दूं—आचार्य का अनुशासन जैसा साधुओं पर है—वैसा ही श्रावकों पर। श्रावक-समाज का प्रत्येक धार्मिक कार्य गुरु की दृष्टि से होता है। वे दृष्टि से दूर नहीं हो सकते।

चाहे कोई किसी भी संप्रदाय में विश्वास करता हो, किसी भी जाति या कौम का हो, नैतिकता और सदाचार उसके लिए समान रूप से आवश्यक हैं। इसके बिना जीवन शांति के साथ कैसे चल सकता है? अणुव्रत आंदोलन लोक-जीवन में व्यापक रूप से नैतिकता और सदाचार को परिव्याप्त करना चाहता है। यह किसी भी तरह की संकीर्णता से जुड़ा नहीं है। यह तो मानव-धर्म का विशाल राजपथ है, जिस पर चलता हुआ मानव-समुदाय जीवन-शुद्धि की मंजिल आसानी से तय कर सके।

अणुव्रत-आंदोलन शोषण और परिग्रह के मूल पर प्रहार करता है। आज मानव का दृष्टिवेध पैसा बन गया है इसे वह बदलना चाहता है, एक नया मोड़ देना चाहता है। पैसे के बदले अपरिग्रह, संतोष और संयम की महत्ता मानी जाए, ऐसा वातावरण यह बनाना चाहता है।

शांति लाने के नाम पर हिंसा को खुलकर प्रश्रय दिया गया, अनेक विषैले विध्वंसकारी अस्त्र-शस्त्रों की सृष्टि हुई, लोमहर्षक नर-संहार हुआ, पर शांति नहीं आई, उल्टी अशांति बढ़ी, पारस्परिक विद्वेष पनपा, एक-दूसरे को निगल जाने की भावना जागी। खेद है, यह सब हुआ शांति के नाम पर। मैं दावे के साथ कह सकता हूं—जितना सहारा हिंसा को मिला, यदि अहिंसा को मिल जाता तो क्या से क्या हो जाता। आज भी मेरा कहना है कि अहिंसा को जितना अधिक प्रश्रय मिलेगा संसार उतना ही अधिक उलझनों से छुटकारा पाएगा। अणुव्रत-आंदोलन का यह घोष है कि व्यक्ति के जीवन में अधिकाधिक अहिंसा की प्रतिष्ठा हो। आपसी मैत्री और बंधुत्व भाव जगे, द्रोह और वैमनस्य दूर हो। मुझे यह प्रकट करते प्रसन्नता है कि लोगों ने इसके अंतरतम को समझा है और वे समझ रहे हैं, भारत के दूर-दूर के प्रदेशों की यात्राओं में मैंने यह स्वयं अनुभव किया है।

आज मर्यादा-महोत्सव का दिन है। हमारा संघ मर्यादा की शृंखला में प्रतिष्ठित है। उसमें जो सबसे बड़ी विशेषता है वह है आज्ञा की। यह सर्व विदित है कि वही संघ, वही संगठन बलवान होता है जो आज्ञाप्रधान होता है। आज्ञाप्रधान संघ ही संघ कहलाता है। आज्ञा-शून्य संघ, संघ नहीं, सिर्फ हड्डियों का ढेर है। हमारा संघ हड्डियों के ढेर का संघ नहीं, वह विचारकों का संघ है। हमारे लिए यह महान गौरव का विषय है कि महामहिम आचार्य भिक्षु ने आज के दिन अंतिम मर्यादाओं का संकलन कर इस संघ को आज्ञा-प्रधान बनाया। वे महापुरुष थे। उन जैसे महापुरुष इस धरातल पर कभी-कभी ही अवतरित हुआ करते हैं। आचार्य भिक्षु ऐसे हुए, वैसे हुए, उन्होंनें यह किया, वह किया, केवल ऐसी आवाज लगाने में गौरव की बात नहीं, गौरव की बात तो इसमें है कि हम उनके जीवन-चरित्र से शिक्षा ग्रहण करें। हमारे हृदय में ऐसी प्रेरणा जागृत रहे कि हम भी अपने जीवन को उनके जीवन जैसा बनाने के लिए हर पल उद्योगशील रहें। हममें भी वैसा आत्म-बल, वैसी आत्म-निष्ठा और वैसी आत्म-साधना

जागृत रहे। आचार्य भिक्षु ने जो मर्यादाएं बनाईं उनमें परिवर्तन की कभी आवश्यकता ही नहीं पड़ी। मर्यादाएं बनीं, परिवर्तन नहीं किया गया, इस बात का गौरव नहीं, गौरव इस बात का है कि परिवर्तन की कभी आवश्यकता ही नहीं पड़ी। आचार्य भिक्षु ने संघ का विधान बनाया इसका गौरव नहीं, गौरव इस बात का है कि आज सैकड़ों विधान-विशेषज्ञ मिलकर भी ऐसा विधान बनाने में अपने आपको असमर्थ महसूस करते हैं, जो चिरस्थायी बन सके। आज के दिन आचार्य भिक्षु ने संघ विधान की रचना की और तात्कालिक उनके साथी साधुओं ने विधान के लिए स्वीकृति प्रदान की। इसके साथ ही साथ समस्त संघ मर्यादाओं की कुंजी भी आचार्य के हाथ में सौंपी गई। शास्त्रीय मर्यादाओं के अतिरिक्त संघीय मर्यादाएं वर्तमान आचार्य के हाथ में हैं। उनमें परिवर्तन व परिवर्धन करने का उन्हें पूर्ण अधिकार है। मैं सोचता हूं तो मुझे लगता है कि ऐसे जीवन का क्या महत्त्व है, जो मर्यादाहीन हो। मर्यादाहीन जीवन में कोई आकर्षण नहीं होता। वही जीवन महत्त्वपूर्ण और आकर्षक होता है जो मर्यादित होता है। मर्यादा में रहने वाला पानी जहां खुद आकर्षक होता है वहां कितनी शस्य-संपत्ति को भी निष्पन्न करता है। जो बाह्य मर्यादाओं को तोड़ गिराते हैं, वे जहां अपना आकर्षण खो बैठते हैं, वहां दूसरों के लिए भी बड़े घातक और विध्वंसक बन बैठते हैं। यही बात मर्यादाहीन और मर्यादायुक्त जीवन के लिए लागू होती है। लोग संभवतः सोचते होंगे कि आज के दिन में ऐसा क्या आकर्षण? तो इस प्रश्न का उत्तर यही है कि अगर इस दिन में कोई आकर्षण नहीं होता तो आज हजारों की संख्या में लोग यहां क्यों इकट्ठे होते? लोग समझें, आज मर्यादा का दिन है। हम एक संघ में हैं और संघ में आज्ञा की प्रधानता होती है। जो आज्ञायुक्त होता है, वही संघ होता है। अतएव हर एक मनुष्य के लिए मर्यादा में रहना आवश्यक है। मर्यादा लांघने से महान अनर्थ होता है; अतः जो भी मर्यादाएं हमारे संघ के लिए बनाई गई हैं, हमें सजीवता के साथ उनका पालन करना चाहिए।

संगठन का आधार

मर्यादा में संगठन होता है पर हमारी मर्यादा सिर्फ संगठन-प्रधान नहीं, आचार-प्रधान है। संगठन यहां गौण और आचार प्रधान है। मेरी दृष्टि में वह संगठन इतना मजबूत, चिरस्थायी और विशुद्ध नहीं जहां केवल संगठन को ही मुख्यता दी जाती है। आचार की सुव्यवस्थित शृंखला में जकड़ा रहने वाला संगठन ही वास्तव में मजबूत, दीर्घकालिक और विशुद्ध संगठन होता है। संगठन का आधार प्रेम होता है और प्रेम का आधार विशुद्ध आचार। हमारे संघ में प्रेम और विशुद्ध आचार दोनों हैं और इन दोनों का ही मार्ग विशुद्ध अहिंसा का मार्ग है।

शिष्य-परंपरा के लिए जिहाद

साधु-संस्था किन कारणों से शिथिल पड़ती है, इस बात का आचार्य भिक्षु को तलस्पर्शी ज्ञान था। उन्होंने मर्यादाओं का निर्माण करते समय विधान-पत्र में उनका उद्देश्य बतलाते हुए लिखा है—'इन मर्यादाओं का निर्माण इसलिए किया जाता है कि साधु-साध्वी शिष्यादि के लोभ से निवृत्त हो विशुद्ध चरित्र पालें तथा विनय-अनुशासन की परंपरा को सदा उज्ज्वल बनाए रखें।' आचार्य भिक्षु ने शिष्य-प्रथा को समाप्त कर हमारे संघ की नींव को अत्यंत मजबूत बना दिया। आचार्य भिक्षु शिष्य-प्रथा के विरोधी थे। इसको वे संगठन के लिए भयंकर खतरा समझते थे। उन्होंने तात्कालिक स्थितियों में यह अनुभव किया था कि साधुओं में शिष्यों की बड़ी भूख है। वे इसी कार्य में व्यस्त रहते हैं। योग्य या अयोग्य जो कोई मिले उसे मूंड़-मूंड़कर जहां साधु-संघ की प्रतिष्ठा को धूलधूसरित कर रहे हैं वहां संगठन के भी टुकड़े-टुकड़े कर रहे हैं। परिणामतः साधुओं की भिन्न-भिन्न टोलियां स्व-हित और लोक-हित के कल्याणकारी अनुष्ठान को भूलकर पारस्परिक स्पर्धा और वैमनस्य में ही अपनी-अपनी शक्ति को विनष्ट करने लग जाती हैं। यही कारण था कि आचार्य भिक्षु ने विशुद्ध चरित्र और विनयमूल धर्म की रक्षा के लिए विधान की सर्वप्रथम धारा यही बतलाई : 'साधु-साध्वी करणा ते भारमलजी रे नामे करणा, आपरे नामे चेला-चेली करणा रा सर्व साधु-साध्वां रे पचक्खाण छै'—अर्थात् किसी को दीक्षित करना तो केवल गुरु के नाम से ही करना, अपने पृथक्-पृथक् शिष्य करने का सबको प्रत्याख्यान है।

आचार का फल

यह मैं पहले ही कह आया हूं कि आचार्य भिक्षु की दृष्टि में संगठन का उतना महत्त्व नहीं था जितना चरित्र का। चरित्र अगर अस्खलित रहेगा तो संगठन अपने-आप उसके पीछे आएगा। उनकी दृष्टि में संगठन के पीछे चरित्र नहीं बल्कि चरित्र के पीछे संगठन था। जब पूछा गया—'भीखणजी! आपका मार्ग कब तक चलेगा?' तो उन्होंने दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया, 'जब तक हमारे साधु-संतों में मठ, स्थान, स्थल बनाने की प्रवृत्ति नहीं होगी, वस्त्र आदि की मर्यादा का वे उल्लंघन नहीं करेंगे और जब तक वे श्रद्धा, आचार और शुद्ध नीति में दृढ़ रहेंगे तब तक यह मार्ग विशुद्ध रूप से चलता रहेगा।' स्वामीजी के ये अमर उद्गार जहां आचार की महत्ता को व्यक्त करते हैं वहां हमें दृढ़ रहने के

लिए सदैव प्रेरित करते रहते हैं। स्वामीजी की जीवन-चर्या को याद कर मेरा रोम-रोम पुलकित हो उठता है। मुझसे जब कोई पूछता है—'महाराज! क्या धर्म में प्रकाश होने वाला है?' तो मेरे मुंह से अनायास ही यह निकल पड़ता है कि मुझे तो धर्म में प्रकाश ही प्रकाश दिखाई पड़ रहा है। इसका एकमात्र कारण स्वामीजी की आचार-निष्ठा और विश्वास का बल है।

चरित्र ही जीवन है

आचार्य भिक्षु एक निर्भीक वक्ता थे। आचार को वे सर्वस्व, प्राण और निधि समझते थे। उनसे कोई कहता कि आप साधु-साधु सब एक साथ मिल क्यों नहीं जाते? तो वे निर्भीकतापूर्वक अपना मंतव्य प्रकाशित करते और कहते:

'कहो साधु किसका सगाजी, तड़के तोड़े नेह,
आचारी स्यूं हिलमिल रहे जी, अनाचारी स्यूं छेह'

साधुओं का किसके साथ संबंध है? आचारियों के साथ हमारा संबंध है और अनाचारियों से हमारा कोई संबंध नहीं। आचारहीन चाहे कितने ही विद्वान क्यों न हों, पर हमारा उनके साथ कोई संबंध नहीं हो सकता। वर्तमान में कुछ लोगों के दिमाग में यह विचार भी चक्कर काटता रहता है—'आजकल तो अच्छे-अच्छे साधु संघ से बाहर हो रहे हैं!' मैं समझ नहीं पाता, अच्छा वे किसे समझते हैं। अच्छे की परिभाषा क्या है? क्या अमुक साधु अच्छा इसलिए समझा जाता है कि वह कपड़े बड़े अच्छे पहनता है या मांग कर भोजन लाने में बड़ा होशियार है अथवा बड़ा अच्छा लेखक या वक्ता है? साधु के अच्छा होने का इन सब बातों से इतना संबंध नहीं जितना आचार से है। आचारवान् साधु ही अच्छा साधु होता है। आचारयुक्त, निष्कलंक जो होगा वह न तो संघ से निकलेगा और न उसे संघ से निकलने के लिए बाध्य ही किया जाएगा। लेकिन जो आचारहीन, मर्यादाहीन होंगे वे निकलेंगे अथवा निकाल दिए जाएंगे। उनकी कोई चिंता नहीं होनी चाहिए। यह चिंता की बात है ही नहीं। चाहे पीछे कितने ही रहें, अगर पीछे रहने वाले थोड़े होकर भी आचारवान् हैं तो कोई चिंता की बात नहीं। आचारवान् थोड़े से भी अपार शक्ति और आकर्षण के केंद्र होते हैं। आचारभ्रष्ट बहुत से होकर भी निकम्मे और निष्प्रयोजन हैं। वे न अपना उद्धार करने में समर्थ हो सकते हैं और न औरों का उद्धार करने में ही। पतित से कोई पावन नहीं बन सकता। पावन, पावन से ही बन सकता है। संघ में एक भी पतित, आचारभ्रष्ट तथा शिथिलाचारी का रहना किसी काम का नहीं। सबको स्मरण होना चाहिए कि आचार्य भिक्षु के अन्य 12 साथियों में से घटते-घटते अंत में 6 साथी ही रह गए थे। साध्वियां उस वक्त थी ही कहां? जो रहे वे बड़े आचारकुशल थे। उसी का ही तो परिणाम है कि आज उन सात की जगह 700 के आस-पास साधु-साध्वियां संघ में विद्यमान हैं। अतएव प्रारंभ से हमारा जो मंतव्य रहा है वह मंतव्य आज भी अक्षुण्ण रूप से चला आ रहा है। वह है—'आचार की महत्ता'।

संगठन आचार-प्रधान हो

आचार को महत्त्व देना हमारा प्रमुख काम है। आज का युग संगठन का युग है। संगठन की चर्चाएं आजकल दिन-रात जगह-जगह पर सुनी जाती हैं। हमारे सामने भी समय-समय पर संगठन की आवाज लगती रहती है। लोग हमें संगठन-प्रेमी समझते हैं; वस्तुतः हम संगठन व एकता के अनन्य प्रेमी हैं। हम एकता चाहते हैं। सबमें परस्पर प्रेम हो, अप्रेम न रहे, सबमें एकता हो, अनेकता न रहे—इससे सहमत हैं पर एक बात जरूर है कि हम यह मानते हैं कि एकता और संगठन का आधार आचार होना चाहिए। जहां आचार में मजबूती और दृढ़ता नहीं है वहां संगठन की नींव रखने का हम समर्थन नहीं कर सकते। मैं पहले ही कह आया हूं, हमारी दृष्टि में आचार प्रधान है न कि संगठन।

विधान-पत्र के संबंध में

अब मुझे स्वामीजी द्वारा निर्मित विधान-पत्र के विषय में प्रकाश डालना है। स्वामीजी ने एक प्रथम और एक अंतिम दो संघ-विधान-पत्र लिखे। दोनों में अक्षर-अक्षर स्वामीजी के हाथ के लिखे हुए हैं। प्रथम विधान-पत्र विक्रम सं. 1832 का है और अंतिम विधान-पत्र विक्रम सं. 1859 का है। 1832 से पहले स्वामीजी ने संघ में किसी संघीय मर्यादा विशेष का निर्माण नहीं किया था। प्रथम विधान-पत्र में साधुओं के हस्ताक्षर हैं। उनसे प्रतीत होता है कि आप उक्त समय तक 13 से 7 की संख्या में ही रह गए। अंतिम विधान-पत्र पर 20 साधुओं के हस्ताक्षर हैं। ये दोनों विधान-पत्र हमारे लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं और हमारी संघ-शक्ति के लिए ये अमूल्य निधियां हैं। हमारी समूची शक्ति इन दोनों में निहित है। हमारा गौरवपूर्ण इतिहास इन दोनों में सुरक्षित है और सदैव सुरक्षित रहेगा। दोनों पत्रों में प्रायः एक समान धाराएं हैं। जो धाराएं प्रथम पत्र में हैं प्रायः वे-की-वे अंतिम पत्र में दुहराई गई हैं। कुछ मुख्य धाराएं इस प्रकार हैं:

1. अब से संघ में एक आचार्य हमारे संघ के प्रमुख रहेंगे।
2. समूचा संघ एक आचार्य के अनुशासन में अनुशासित रहेगा।
3. सारे चेला-चेली एक आचार्य के शिष्य होंगे। आचार्य की अनुमति के बिना कोई भी किसी को दीक्षित नहीं कर सकेगा।

4. वर्तमान आचार्य ही अपने उत्तराधिकारी का चुनाव करेंगे। वे जिस पर शासन का भार सौंपें, सारे संघ का कर्तव्य होगा कि वह बिना किसी प्रकार की आनाकानी किए निष्ठापूर्वक उसके अनुशासन को शिरोधार्य करके चले।
5. संघ से बहिष्कृत या बहिर्भूत व्यक्ति के साथ संबंध न रखें।
6. किसी में दोष देखे तो उसे न तो छिपाएं और न उसका अन्यत्र प्रचार करें। दोष-दोषी को बतलाएं याँ फिर गुरु को सूचित करें। किसी कारण से दोष को पहले न कहकर जो बाद में उसका प्रकाशन करेगा, वास्तव में वही दोष का भागी होगा। अगर दोषी दोष स्वीकार करे तो उसे दंड दिया जाए, न करे तो उतना दंड उस व्यक्ति को देना चाहिए जो वर्तमान के दोष को भविष्य में कहें।
7. संघ के वस्त्र, पात्र, पुस्तक आदि पर संघ का सर्वाधिकार है। आचार्य की आज्ञा से ही उनका उपयोग किया जा सकता है। संघ से संबंध-विच्छेद होते समय उन्हें अपने साथ में ले जाने का किसी को भी अधिकार नहीं है। अस्तु।

उज्ज्वलता का प्रतीक

ये धाराएं हमारे संघ के उज्ज्वल भूत, उज्ज्वल वर्तमान व उज्ज्वल भविष्य की प्रतीक हैं। इनके प्रति हमारी जितनी निष्ठा हो उतनी ही हमारे रम्य व विकसित जीवन की ये परिचायक हैं। ये मर्यादाएं हमारा जीवन हैं, सर्वस्व हैं, निधि हैं। इनके प्रति हमारी जो निष्ठा है, उसे हम सहस्रगुणी अधिक बढ़ाते हुए इन्हें सदैव अस्खलित रूप से निभाते रहें।

मर्यादा का प्रतीक

मर्यादा का जीवन क्या साधु और क्या गृहस्थ, सबके लिए उपयोगी है। गृहस्थ समाज को धार्मिक मर्यादाओं में प्रतिष्ठित करने के लिए अणुव्रती संघ की स्थापना की गई है। अणुव्रत-योजना मानव के असंयमित जीवन को संयमित बनाकर मानवीय-आदर्श का एक महानतम संतुलन उपस्थित करती है। आज मैं गृहस्थ समाज को आमंत्रित करना चाहूंगा कि वे अगर जीवन को मर्यादित बनाना चाहते हैं तो अणुव्रत के राजमार्ग पर अग्रसर हों।

ऐक्य, अनुशासन एवं संगठन का प्रतीक

संसार में समारोह बहुत होते हैं, पर आज के युग में जबकि मर्यादा-विहीनता बढ़ती जा रही है ऐसे समारोह की बहुत बड़ी अपेक्षा व आवश्यकता है, जिससे जीवन में मर्यादा की प्रभावना हो; क्योंकि मर्यादा मानव के विकास को बांधती नहीं, उसे वास्तविक गति देती है। आजादी के बाद लोग ऐसा समझने लगे कि हम पर अब अंकुश की आवश्यकता नहीं है, पर आजादी का मतलब मर्यादाहीन, निरंकुश और उच्छृंखल बन जाना नहीं है। यदि लोगों ने ऐसा समझा है तो उन्होंने बड़ी भूल की है। आजादी में मर्यादा की और अधिक आवश्यकता है। होने वाला समारोह संघीय ऐक्य अनुशासन व संगठन की मर्यादा का एक स्फूर्तिमय पाठ देता है; इसलिए इसका नाम मर्यादा महोत्सव है। जैसा कि मेरा खयाल है, भारत में अपने ढंग का यह पहला समारोह है।

सही माने में धार्मिक बनने की आवश्यकता है। केवल **धर्माचरण का बाहरी स्वांग रचने से आत्महित नहीं होता, जीवन का उत्थान नहीं होता। जीवन को उठाने के लिए तो धर्म को जीवन में उतारना ही होगा। संसार में अनेक मत हैं;** पंथ हैं पर हमें उनसे लड़ना-झगड़ना नहीं है, उन पर आक्षेप नहीं करना है। हमारा कार्य तो सिर्फ इतना ही होना चाहिए कि उन मतों में समाहित सत्तत्त्वों को जीवन में उतारा जाए। सब धर्मों के मौलिक तत्त्व समान हैं। उनका लक्ष्य एक है पर देखना यह है कि उनके नियम, शील और व्रत उनके अनुयायियों के जीवन में कितने क्या उतरे हैं? अपने आपको उच्च और धार्मिक समझनेवाले जीवन को निर्लेप, शुद्ध, सात्त्विक और पवित्र बनाएं। धर्म के नाम पर दिखावा, प्रदर्शन और आडंबर को प्रोत्साहन दिया गया तभी तो धर्म बुद्धिजीवियों को आकृष्ट नहीं कर पा रहा है। टीका, टिप्पणी, ईर्ष्या, जलन और देखादेखी से मानव क्या लाभ पा सकेगा? उससे तो नुकसान ही होगा। अतः मैं चाहूंगा कि प्रत्येक व्यक्ति धर्म के अहिंसा, सत्य और एकतामूलक रूप को अपने जीवन में ढालें। ❖

बाद में उत्पन्न होने वाली सारी इच्छाओं की पूर्ति करने की अपेक्षा
अपनी पहली इच्छा का दमन कर देना ही सरल और श्रेयस्कर है।

—फ्रेंकलिन

माघ महीने का शुक्ल पक्ष और आचार्यश्री महाप्रज्ञ जी की जीवन-सरणी का योग अनुपम धवल कीर्ति से गुंफित है। उनका दीक्षा दिवस (माघ शुक्ला दशमी) और उनका आचार्य पदाभिरोहण (माघ शुक्ला सप्तमी) इसी माघ के शुक्ल पक्ष में है। इस तरह माघ का यह शुक्ल पक्ष अपनी आभा को जिस तरह द्विगुणित कर रहा है, वैसा ही द्विगुणित आभामय जीवन है आचार्यश्री महाप्रज्ञ जी का। उनका जीवन कथन-उन्ही की जुबानी—

मैं मुनि होना चाहता हूं

आचार्यश्री महाप्रज्ञ

कहानी बचपन से शुरू होती है। कोई बच्चा आगे क्या होगा, यह सब नियति के गर्भ में होता है। उसका स्पष्ट बोध स्वयं को भी नहीं होता और दूसरों को भी नहीं होता। उसका पूर्वाभास स्वयं को भी हो जाता है और दूसरों को भी हो जाता है। मैं लगभग आठ वर्ष का था। एक अज्ञात भिक्षु आया। वह घर-घर भिक्षा मांगता हुआ घूम रहा था। वह मेरे पड़ोसी के घर पहुंचा। मेरे एक साथी को देखकर वह बोला—'यह बच्चा एक सप्ताह के बाद चल बसेगा।' वह भिक्षु मेरे घर पहुंचा। उसने मुझे देखकर कहा—'यह बालक योगी होगा, योगीराज होगा।' मैं नहीं जानता था, योगी क्या होता है? इन दोनों घटनाओं का लोगों को पता चला। बात सारे गांव में फैल गई। पर एक अनजाने भिक्षु की बात थी, इसलिए किसी ने उस पर विशेष ध्यान नहीं दिया। सप्ताह बीता और मेरा साथी अचानक इस संसार से चल बसा। तब लोगों का ध्यान उस भिक्षु की भविष्यवाणी की ओर गया। उसे खोजा, पर उसका कोई पता नहीं चला।

चेतना का प्रस्फुटन

मेरी बहन का विवाह था। घर में काफी लोग आए हुए थे। मेरे मन में एक तरंग उठी और मैं आंखों पर रूमाल बांधकर चलने लगा। जब दरवाजे के पास पहुंचा तो सिर भींत से टकरा गया। ललाट के मध्य में चोट लगी, ठीक उसी स्थान पर, जो ज्योति-केंद्र (पिनियल ग्लैंड) का स्थान है। कभी-कभी बाहर का आघात भी भीतर की चेतना को जगाने का निमित्त बन जाता है। चेतना बाहर में नहीं जागी हो, पर भीतर में उसका प्रस्फुटन शुरू हो गया।

अनुत्तरित प्रश्न

नौ वर्ष पूरे हो गए। 'मेमनसिंह' (वर्तमान बंगला देश) में मेरी चचेरी बहन का विवाह था। उस उद्देश्य से मां और चाचा के साथ मैं वहां गया। बीच में हम कलकत्ता पहुंचे। वहां हम सभी बुआ के पास ठहरे। भोजन के पश्चात् मेरे चाचा और उनकी दूकान के कर्मचारी कलकत्ता के बाजार में सामान खरीदने गए। मैं भी उनके साथ चला गया। वे दूकानों में सामान खरीदते रहे और मैं इधर-उधर देखता रहा। रास्ते में चलते-चलते मैं कहीं रुक गया और वे आगे बढ़ गए। न उनको ध्यान रहा और न मुझे ध्यान रहा। मैं अकेला रह गया। मुझे नहीं पता कि मुझे कहां जाना है। न कोठी का पता और न उसके नंबर का पता। पर पता नहीं मेरी अंतश्चेतना को इन सबका कैसे पता चला! मुझे जब यह लगा कि मैं अकेला रह गया हूं तब मैंने सबसे पहले एक काम किया—मैंने अपने हाथ की घड़ी खोली, गले में से स्वर्णसूत्र को निकाला और दोनों को जेब में रख लिया। मैं पीछे मुड़ा और अज्ञात की ओर चल पड़ा। मुझे नहीं पता, कहां जाना है, कहां जा रहा हूं। पर अंतश्चेतना को कोई पता था, मैं ठीक स्थान पर पहुंच गया। कुछ समय बाद मेरे चाचा को पता चला कि मैं उनसे बिछुड़ गया हूं। तब उन्होंने मुझे खोजने के लिए दौड़-धूप की। पुलिस-स्टेशन पर गए। मेरे गुम होने की रिपोर्ट लिखाई और वे मुझे खोजते-खोजते घर आए। नीचे से ही उन्होंने चिल्लाना शुरू कर दिया—'नत्थू हमसे बिछुड़ गया। उसका कोई पता नहीं चला।' उनकी आंखें डबडबाई हुई थीं। वे बहुत परेशान दिख रहे थे। उनकी बहन ने कुछ

क्षणों तक उन्हें कोई बात नहीं बताई। फिर अचानक मुझे भीतर से बाहर लाकर उनके सामने खड़ा कर दिया। उनकी सारी परेशानी दूर हो गई। उन्होंने पूछा—'तू यहां कैसे पहुंचा?' मेरे पास इसका कोई उत्तर नहीं था। जीवन में सब कुछ उत्तरित नहीं होता। कितना अच्छा होता कि मनुष्य अनुत्तरित का उत्तर दे पाता।

एक आघात

मेरे पिताजी चार भाई थे। बड़े भाई का नाम था गोपीचन्द जी। उनके एक पुत्र था। उनका नाम था म्हालचन्द जी। युवावस्था में अचानक उनका देहावसान हो गया। पिता दुखी, माता दुखी और पत्नी दुखी। सारा परिवार दुखी। मुझसे वे बहुत स्नेह रखते थे। मुझे भी बड़ा दुख हुआ। अंतर्मन में एक चोट लगी। जीवन के प्रति किसी अज्ञात कोने में एक अनास्था का भाव पैदा हो गया।

मुनि छबीलजी का चातुर्मास हुआ। मैंने जीवन का एक दशक पूरा कर लिया। दूसरे दशक में प्रवेश हो चुका था। उनके सहवर्ती मुनि मूलचन्द जी ने मुझे प्रेरित किया—मैं तत्त्वज्ञान पढ़ूं। मैंने अध्ययन शुरू किया। एक दिन मुनिद्वय ने मुझे मुनि बनने की बहुत हल्की-सी प्रेरणा दी। मेरा अंतःकरण झंकृत-सा हो गया, जैसे कोई बीज अंकुरित होना चाहता हो और उस पर पानी की फुहारें गिर जाएं। मेरा अंतर्मन जैसे मुनि बनना ही चाहता हो और उनकी प्रेरणा की ही प्रतीक्षा हो। मुझे ऐसा ही अनुभव हुआ। मैंने अपनी मां से कहा—'मैं मुनि होना चाहता हूं।' मां ने कहा—'मैं भी साध्वी होना चाहती हूं, पर कितना कठिन है यह मार्ग और कितनी कठिन है इसकी साधना! तूने सोचा है?' मैंने कोई उत्तर नहीं दिया। अनुत्तरित को उत्तरित करना मुझे जरूरी नहीं लगा। मेरे पिता का साया मुझ पर से बहुत जल्दी उठ गया था। मैं ढाई मास का था तब उनका स्वर्गवास हो गया था। यदि कहूं तो बात अस्वाभाविक लगती है पर मेरी स्मृति कहती है कि मैंने उन्हें मृत्यु-शय्या पर देखा है। भाई कोई था नहीं। दो बहनें थीं। दोनों विवाहित।

दीक्षा की स्वीकृति

हमने पूज्य कालूगणी जी के दर्शन करने का निश्चय किया। हम गंगाशहर पहुंचे। पूज्य कालूगणी जी के दर्शन किए। उनके प्रदीप्त मुखमंडल की आभा और उनकी वह मुद्रा अब भी मेरी स्मृति में वैसी ही अंकित है। मुनि मूलचन्द जी ने कहा था—'वहां तुम मुनि तुलसी के दर्शन जरूर करना। वे आयु में छोटे हैं, पर बहुत भाग्यशाली हैं। उन पर पूज्य कालूगणी की असीम कृपा है।' मैंने वहां पूछा—'मुनि तुलसी कहां हैं?' एक भाई ने बताया—'वे छत पर बैठे हैं।' मैं वहां गया, दर्शन किए। एकटक उनके सामने देखता रहा। उन्होंने पूछा—'कहां से आए हो?' 'टमकोर से आया हूं'—मैंने उत्तर दिया। मौखिक प्रश्न और उत्तर बहुत नहीं चला, किंतु मूक प्रश्नोत्तर बहुत लंबा चला और वह गहरे में उतर गया।

दीक्षा

हमने दीक्षा के लिए प्रार्थना की और उसकी पूर्व-स्वीकृति मिल गई। उस दिन वहां रुके और फिर गांव चले आए।

टमकोर एक छोटा गांव है। उस समय वहां कोई राजकीय विद्यालय नहीं था। मैं गुरु जी की पाठशाला में पढ़ा। वर्णमाला पढ़ी, कुछ पहाड़े पढ़े, और कुछ विशेष पढ़ने का योग नहीं मिला। ग्यारहवां वर्ष आधा बीता। **माघ शुक्ला दसमी, वि.सं. 1987** के दिन पूज्य कालूगणी का वरदहस्त हमारे सिर पर टिका। मैं मेरी माता के साथ दीक्षित हो गया। हमारी दीक्षा भंसाली जी के बाग में हुई। वहां से प्रस्थान कर पूज्य कालूगणी गधैयों के नोहरे में आए। वहीं उनका प्रवास था। वहां पहुंचते ही उन्होंने मुझे निर्देश दिया—'तुम तुलसी के पास जाओ, वहीं तुम्हारी शिक्षा-दीक्षा होगी।'

अज्ञात की प्रेरणा

गंगाशहर में अज्ञात की उर्वरा में एक बीज-वपन हुआ था, उसे अब अंकुरित होने का अवसर उपलब्ध हो गया।

मुनि-दीक्षा स्वीकारने के पश्चात् क्या करना चाहिए—इसकी दिशा मेरे सामने स्पष्ट नहीं थी। अज्ञात जब सक्रिय होता है तब ज्ञात की दिशा स्पष्ट नहीं होती। शायद ऐसा भी होता होगा कि ज्ञात की दिशा स्पष्ट होने पर अज्ञात की सक्रियता कम हो जाती है। लोगों ने मुझे बहुत बार पूछा—आप इतनी छोटी अवस्था में मुनि क्यों बने? मैं इसका क्या उत्तर देता? कुछ गढ़े-गढ़ाये उत्तर होते हैं। मैं उनमें कम विश्वास करता हूं। इसलिए मैं नहीं कहता कि मुझे संसार असार लगा, इसलिए मैं मुनि बन गया। अथवा जन्म-मरण के चक्र से डरकर मैं मुनि बन गया, अथवा नरक के भय और स्वर्ग के प्रलोभन से मैं मुनि बन गया। मैं एक ही उत्तर देना पसंद करूंगा और वही उत्तर देता रहा हूं कि कोई अज्ञात की प्रेरणा थी और ज्ञात जगत की घटना घटी, मैं मुनि बन गया। हम अज्ञात को छोड़कर केवल ज्ञात को समझने का प्रयत्न करते हैं, केवल उसके आधार पर निष्कर्ष निकालना चाहते हैं, वह सच होने पर भी अधूरा सच होता है, पूरा सच नहीं होता। मैं मुनि बनने और मुनि तुलसी की छत्रछाया में नई जीवन-यात्रा चलाने को एक अज्ञात की प्रेरणा मानता हूं।

ज्ञात जगत में इसका समाधानकारक उत्तर मुझे उपलब्ध नहीं होगा।

अध्ययन

मेरे अध्ययन का प्रारंभ दशवैकालिक से हुआ। वह एक जैन आगम है। भाषा उसकी प्राकृत है। उसमें मुनि की जीवन-यात्रा सांगोपांग निरूपित है। मेरा अध्ययन बहुत मंथर गति से चला। पूरे दिन में उसके दो-तीन श्लोक कंठस्थ कर पाता था। इस मंथर गति से मुनि तुलसी भी प्रसन्न नहीं थे और पूज्य कालूगणी भी प्रसन्न नहीं थे। वे चाहते थे—मैं त्वरित गति से आगे बढ़ूं। कुछ दिनों तक मैं उनकी चाह को पूरा नहीं कर सका। संस्कृत और प्राकृत का कभी नाम भी नहीं सुना था। अपरिचित से परिचित होने में प्रारंभिक कठिनाई होती है। मैंने भी उस कठिनाई का सामना किया। थोड़े दिनों बाद वह कठिनाई दूर हो गई। मेरी गति तेज हुई और मैं प्रतिदिन आठ-दस श्लोक कंठस्थ करने लगा। अब सब प्रसन्न थे।

भय और प्रीति

मैंने अनुभव किया कि मैं उपालंभ और साधुवाद, भय और प्रेम—दोनों का मिश्रित जीवन जी रहा हूं। मुनि तुलसी प्रमाद होने पर उलाहना भी बहुत देते और सही कार्य करने पर साधुवाद भी देते। मेरे प्रति उनके अंतःकरण में आकर्षण भी था और वे अनुशासनात्मक भय भी बनाए रखते थे। नीति का वचन है—भय के बिना प्रीति नहीं होती। मेरा अनुभव यह है कि प्रीति के बिना भय नहीं होता। दोनों सचाइयां अधूरी हैं, पर दोनों में सत्यांश अवश्य है। पूज्य कालूगणी जी जोधपुर चातुर्मास कर रहे थे। उस समय मुनि तुलसी की पूरी पाठशाला चल रही थी। उसमें आठ-दस साधु पढ़ रहे थे। अनुशासन कठोर था। केवल अध्ययन। परस्पर बातचीत करने के लिए कोई समय नहीं। हम पढ़ते-पढ़ते थक जाते। मन होता परस्पर मिलें और बातचीत करें। मुनि तुलसी के सामने बातचीत कर नहीं सकते थे। वे प्रयोजनवश जब दूसरे स्थान में जाते तब हम बातचीत करने बैठ जाते। उनके आने का पता चलता तब फिर सब अपना पाठ कंठस्थ करने लग जाते। कभी पता नहीं चलता तो उलाहना मिलता। कभी-कभी हम एक साधु को सीढ़ियों के पास बिठा देते। वह हमें मुनि तुलसी के आने की सूचना देता और हम सब अपने अध्ययन में लग जाते। यदि हमारे मन में उनके प्रति प्रीति नहीं होती तो हम उलाहना के भय से भी मुक्त हो जाते। जो केवल डरता है, वह ढीठ बन जाता है। डर के पीछे भी एक बंधन-सूत्र होता है और वह है प्रीति।

छापर की एक घटना है। एक दिन मुनिवर ने मुझे कहा—आज तुम्हें 'विगय' नहीं खानी है। यह एक भूल का प्रायश्चित्त था और मेरे जीवन में ऐसे प्रायश्चित्त का यह पहला ही अवसर था। भोजन का समय हुआ। मुनिश्री चम्पालाल जी, मुनिवर और मैं—तीनों एक साथ भोजन करते। गोचरी में आम का रस आया। 'मैं नहीं खाऊं और वे खाएं'—यह उन्हें अच्छा नहीं लगा। उन्होंने कहा—'तुम खाओ।' मैंने कहा—'नहीं खाऊंगा। आपने पहले कहा था तुम्हें विगय नहीं खानी है तो अब मैं कैसे खाऊं?' मैं मेरी बात पर अड़ गया। हमारी भोजन की मंडली बड़ी थी। मुनिश्री मगनलाल जी की सन्निधि में लगभग बीस-पचीस साधु एक मंडली में भोजन करते थे। उन सबके बीच कोई बातचीत नहीं की जा सकती। मुनिवर ने कुछ शब्दों के संकेतों से मुझे विवश कर दिया और मैं अपने बालहठ को छोड़ने के लिए तैयार हो गया।

किशोरावस्था की समस्या

एक किशोर के विकास में सहयोगी बनना बहुत कठिन बात है। उसके मन को तोड़कर चलने वाला भी उसका सहयोगी नहीं बन सकता और सब कुछ उसके मनचाहा करने वाला भी उसका सहयोगी नहीं हो सकता। सहयोगी वह हो सकता है, जो सब कुछ मनचाहा भी न करे और सब कुछ अनचाहा भी न करे, दोनों के बीच संतुलन स्थापित कर सके। अध्ययन में मन कम लगता। हमने (मैंने तथा मुनि बुद्धमल्ल जी ने) अभिधान चिंतामणि को कंठस्थ करना शुरू किया। बड़ी मुश्किल से दो-तीन श्लोक कंठस्थ कर पाते। हमारी रुचि इधर-उधर घूमने और बातें करने में ज्यादा रही। हमें इस स्थिति से बचाने के लिए मुनिवर हमारे साथ श्लोक रटते रहते। दो-तीन श्लोक रटने में आधे घंटे का समय बीत जाता, फिर दिन भर हम छुट्टी ही मनाते। हंसना और मुस्कराना—यह कोई सहज ही आदत बन गई थी। बहुत बार ऐसा होता कि कुछ शब्दों के उच्चारण-काल में हम हंस पड़ते। तब हमारा पाठ बंद हो जाता। हम समझते—बहुत अच्छा हुआ। फिर हमें राजी कर अध्ययन शुरू कराया जाता। किशोरावस्था की कुछ जटिल आदतों को यदि मनोवैज्ञानिक ढंग से न सम्हाला जाता तो शायद हम बहुत नहीं पढ़ पाते। हम जब श्लोक कंठस्थ नहीं करते तब हमें खड़ा कर दिया जाता। खड़ा रहना मेरे लिए बहुत कठिन था। आधे घंटे तक खड़ा रहना बहुत असह्य हो जाता, तब पानी पीने का या और किसी काम का बहाना लेकर मैं इधर-उधर घूम आता। यह स्थिति बहुत लंबे समय तक नहीं चली, लगभग दो-ढाई वर्ष तक वह चली। उसके बाद हमें यथार्थ का कुछ-कुछ अनुभव

शेष पृष्ठ 30 पर

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी म

संबोधन अलंकरण

तारानगर, दिनांक 10 फ

युग प्रधान आचार्यश्री महाप्रज्ञ जी की ओर से समाज के वरिष्ठ श्रावक-श्राविकाओं को उनकी जीवनगत श्रेष्ठताओं का मूल्यांकन करते हुए वि
पर प्रतिवर्ष इसी आधार पर अलंकरण अर्पित करती रही है। इस वर्ष भी तारानगर (चूरू, राजस्थान) में आयोजित मर्यादा महोत्सव के अवसर पर
को सम्मानित किया जाएगा। समारोह में पधारने के लिए संबद्ध सभी विशिष्ट जनों से अनुरोध किया गया है, फिर भी पुनः अनुरोध है कि सभी स

क्र.सं.	नाम	निवासी	प्रवासी	अलंकरण
1.	श्री चन्दनराज जी मेहता	जोधपुर		श्रद्धानिष्ठ श्रावक
2.	श्री ईश्वरदास जी जैन	टोहाना		श्रद्धानिष्ठ श्रावक
3.	श्री लाजपतराय जैन	टोहाना	दिल्ली	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
4.	स्व. श्री उदयलाल जी बागरेचा	कांकरौली		श्रद्धानिष्ठ श्रावक
5.	स्व. श्री दयासागर जी जैन	हिसार		श्रद्धानिष्ठ श्रावक
6.	स्व. लाला नानकराम जी उमरिया	भिवानी		श्रद्धानिष्ठ श्रावक
7.	स्व. श्री कान्तिकुमार जी दूगड़	जयपुर		श्रद्धानिष्ठ श्रावक
8.	स्व. श्री सुन्दरलाल जी मेहता	मजेरा	मुम्बई	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
9.	स्व. श्री खेमराज जी समदड़िया	मुंबई		श्रद्धानिष्ठ श्रावक
10.	स्व. श्री रिखबचन्द जी छाजेड़	श्रीडूंगरगढ़		श्रद्धानिष्ठ श्रावक
11.	श्री मंगतराय जी जैन	दिल्ली		श्रद्धानिष्ठ श्रावक
12.	श्री बालचन्द जी जैन	दिल्ली		श्रद्धानिष्ठ श्रावक
13.	श्री शिखरचन्द जी जैन भगत	दिल्ली		श्रद्धानिष्ठ श्रावक
14.	स्व. श्री सागरमल जी बाफणा	दिल्ली		श्रद्धानिष्ठ श्रावक
15.	श्री बाबूलाल जी जैन	दिल्ली		श्रद्धानिष्ठ श्रावक
16.	स्व. श्री पोकरचन्द जी तातेड़	जोधपुर		श्रद्धानिष्ठ श्रावक
17.	श्री रामप्रसाद जी सोनी	हिसार		श्रद्धानिष्ठ श्रावक
18.	श्री लक्ष्मीसागर जी जैन 'एडवोकेट'	हिसार		श्रद्धानिष्ठ श्रावक
19.	स्व. लाला बालचन्द जी जैन	हिसार		श्रद्धानिष्ठ श्रावक
20.	स्व. लाला घासीराम जी जैन	हिसार		श्रद्धानिष्ठ श्रावक
21.	स्व. श्री नेमीसागर जी जैन	हांसी		श्रद्धानिष्ठ श्रावक
22.	स्व. श्री ताराचन्द जी जैन	हांसी		श्रद्धानिष्ठ श्रावक
23.	चौ. रामलाल जी जैन	धुरी		श्रद्धानिष्ठ श्रावक
24.	श्री चम्पालाल जी नाहर	राजलदेसर	पूर्णियां	शासनसेवी
25.	श्री माणकचन्द जी नाहटा	राजगढ़	कलकत्ता	शासनसेवी
26.	स्व. श्री दुलीचन्द जी जैन	भिवानी	दिल्ली	शासनसेवी
27.	स्व. श्री कन्हैयालाल जी दूगड़	सरदारशहर	कलकत्ता	शासनसेवी
28.	श्री पुखराज जी गोलछा	बालोतरा		शासनसेवी
29.	स्व. श्री शुभकरण जी दूगड़	सरदारशहर	अहमदाबाद	शासनसेवी
30.	श्री राजेन्द्रकुमार जी जैन	दिल्ली		शासनसेवी
31.	स्व. श्री पद्मचन्द जी जैन	दिल्ली		शासनसेवी
32.	श्री मांगीलाल जी सेठिया	दिल्ली		शासनसेवी

ॐ भिक्षु अर्हम् ज

136वां मर्यादा मह

पारदर्शी दृष्टि के स
निस्पृह महामन
युग प्रधान
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
के
सान्निध्य में दि. 10 से 12
को
136वां मर्यादा महोत
तारानगर (चूरू
में
समायोजित होगा
आप सभी से सानुरोध निवे
परम पावन पर्व में पधारकर
साक्षी बनें, व्यवस्था में स
तथा धर्म संघ की प्रभा
योगभूत बनें।

आयोजक

136वां मर्यादा महोत्सव व्यव
तारानगर (चूरू) रा

संबोधन से अलंकृत महानुभावों या उनके परिज

भंवरलाल सिंघी
महामंत्री

ारापंथी महासभा, कलकत्ता

अलंकरण समारोह

दिनांक 10 फरवरी, 2000

कन करते हुए विशेष संबोधन से संबोधित किया जाता रहा है। जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा ऐसे सभी विशिष्ट जनों को मर्यादा महोत्सव के अवसर
ा के अवसर पर 10 फरवरी, 2000 को महासभा की ओर से 'संबोधन अलंकरण' समारोह आयोजित हो रहा है। इस समारोह में निम्नोक्त महानुभावों
ध है कि सभी संबद्ध महानुभाव समारोह में पधारने की कृपा करें, ताकि महासभा ससम्मान उन्हें 'संबोधन अलंकरण' अर्पित कर सके—

क्र.सं.	नाम	निवासी	प्रवासी	अलंकरण
33.	श्री रणजीतमल जी भण्डारी	जोधपुर	दिल्ली	शासनसेवी
34.	श्री बच्छराज जी कठौतिया	दिल्ली		शासनसेवी
35.	श्री धर्मानन्द जी	नोहर	दिल्ली	शासनसेवी
36.	श्री गोविन्दलाल जी सरावगी	राजगढ़	कलकत्ता	शासनसेवी
37.	स्व. श्री रामकुमार जी सरावगी	राजगढ़	कलकत्ता	शासनसेवी
38.	श्रीमती केशरदेवी बैद	गंगाशहर		श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
39.	स्व. श्रीमती सिरीदेवी सुराणा धर्मपत्नी श्री सूरजमल जी सुराणा	पड़िहारा	गौहाटी	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
40.	स्व. श्रीमती ज्ञानदेवी दूगड़	बीकानेर	काठमांडू नेपाल	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
41.	स्व. श्रीमती केसरदेवी चोरड़िया धर्मपत्नी श्री स्वरूपचन्द जी चोरड़िया	भुसावल		श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
42.	स्व. श्रीमती भंवरीदेवी गेलड़ा धर्मपत्नी श्री जमनालाल जी गेलड़ा	शहादा		श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
43.	स्व. श्रीमती अभयकंवर सुराणा	जोधपुर		श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
44.	स्व. श्रीमती नेमादेवी दूगड़	सरदारशहर		श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
45.	स्व. श्रीमती गहरीबाई डागा धर्मपत्नी श्री घीसूलाल जी डागा	देवगढ़		श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
46.	श्रीमती तारामणि जैन	दिल्ली		श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
47.	श्रीमती सुनहरीदेवी जैन धर्मपत्नी श्री राजेन्द्रकुमार जी जैन	दिल्ली		श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
48.	श्रीमती शान्तिदेवी जैन	हिसार		श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
49.	श्रीमती लूणीदेवी बोथरा धर्मपत्नी श्री मूलचन्द जी बोथरा	बीकानेर		श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
50.	श्रीमती बेलादेवी डाबड़ीवाल	डाबड़ी	कलकत्ता	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
51.	श्रीमती भंवरीदेवी मेहता धर्मपत्नी श्री घेवरचन्द जी मेहता	बालोतरा		तपस्या की प्रतिमूर्ति
52.	स्व. श्रीमती रमणीदेवी सेठिया	सरदारशहर	फारबिसगंज	तपस्या की प्रतिमूर्ति
53.	स्व. श्री शीतलचन्द जी कोठारी	जयपुर		संयम की प्रतिमूर्ति
54.	स्व. लाला नैनसुखदास जी	भिवानी		संघ-हितैषी
55.	श्री शिवचन्दराय जी डाबड़ीवाल	डाबड़ी	कलकत्ता	श्रावकोत्तम
56.	श्री श्रीचन्द जी रामपुरिया	सुजानगढ़	कलकत्ता	शासनसेवी और श्रद्धानिष्ठ श्रावक

अर्हम् जय तुलसी

ां मर्यादा महोत्सव

दर्शी दृष्टि के स्वामी
निस्पृह महामना
युग प्रधान
चार्यश्री महाप्रज्ञ जी
के
दि. 10 से 12 फरवरी, 2000
को
वां मर्यादा महोत्सव
तारानगर (चूरू)
में
समायोजित होगा।
सानुरोध निवेदन है कि इस
पर्व में पधारकर महोत्सव के
, व्यवस्था में सहभागी बनें
र्म संघ की प्रभावना में
योगभूत बनें।

आयोजक
ा महोत्सव व्यवस्था समिति,
गर (चूरू) राजस्थान

ा उनके परिजनों के शुभागमन की प्रतीक्षा है—

भंवरलाल डागा
अध्यक्ष

मैं मुनि होना...पृष्ठ 27 का शेष

होने लगा। जब तक यथार्थ का अनुभव नहीं हुआ तब तक इस कठोर अनुशासन में रहना बड़ा कठिन लगा।

कालूगणी से शिकायत

एक बार हम पूज्य कालूगणी जी के पास पहुंचे। हमने उनके चरणों में एक विनम्र प्रार्थना रखी। हमने कहा—'गुरुदेव! तुलसी स्वामी हम पर कड़ाई बहुत करते हैं।' पूज्य गुरुदेव ने पूछा—'किसलिए?' हमने कहा—'पढ़ाने के लिए।' फिर पूछा—'और किसीलिए तो कड़ाई नहीं करता?' हमने कहा—'नहीं।' तब गुरुदेव बोले—'पढ़ाई के लिए तो वह करेगा, इसमें तुम्हारी नहीं चलेगी।' हम अवाक् रह गए। आए थे आशा लिए, हाथ लगी निराशा। आचार्यवर ने कहानी सुनाई—राजा के पुत्र के सिर पर अध्यापक ने अनाज की पोटली रख दी। पढ़ाई समाप्त हुई। विद्यार्थी की परीक्षा के लिए अध्यापक राजसभा में जा रहा था। बीच में अनाज की दूकान आई। गेहूं खरीदे। उनकी पोटली बांधी और विद्यार्थी राजकुमार को उसे उठाने को कहा। वह अस्वीकार कैसे करता, पर वह दब गया भार से और लज्जा से। परीक्षा हुई। वह सब विषयों में उत्तीर्ण हुआ। राजा बहुत प्रसन्न हुआ। अध्यापक से पूछा—'राजकुमार ने विद्यार्जन कैसे किया?' अध्यापक ने कहा—'बहुत अच्छे ढंग से किया, विनयपूर्वक किया।' राजकुमार से पूछा—'गुरुजी ने तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार किया?' राजकुमार बोला—'बारह वर्ष तक तो अच्छा किया पर आज...।' राजा ने पूछा—'आज फिर क्या हुआ?' राजकुमार ने पोटली की बात सुनाई और राजा का चेहरा तमतमा उठा। पूछा तो उत्तर मिला—'वह भी पढ़ाई का अंग था। वह पाठ राजकुमार को ही पढ़ाना था। आगे चलकर दंड वही देगा। भार उठाने में कितना कष्ट होता है, इसका भान कराना था। यह भान हो गया है। अब वह किसी से अधिक भार नहीं उठवाएगा।' राजा के पास अब कहने के लिए कुछ नहीं था। आचार्यवर ने कहा—अध्यापक राजकुमार से पोटली उठवा सकता है, तब फिर।

हमारे पास भी वापस कहने को कुछ नहीं था। हम चले आए। मन में और चिंता पैदा हो गई कि मुनिवर को पता चल जाएगा तो वे क्या कहेंगे? पढ़ने को कैसे जाएं? सूर्योदय हुआ। श्लोक-वाचन के लिए सकुचाते-से गए और बांच कर बिना कुछ उलाहना लिए आ गए। कई दिनों तक मन में भय बना रहा, पर आपने कभी हमें भयभीत नहीं किया। आपको उस स्थिति का पता लग गया, पर हमें यह पता नहीं लगने दिया कि आपको उस स्थिति का पता लग गया है। अनुशासन एक कला है। उसका शिल्पी यह जानता है कि कब कहा जाए और कब सहा जाए। सर्वत्र कहा ही जाए तो धागा टूट जाता है और सर्वत्र सहा ही जाए तो वह हाथ से छूट जाता है। इसलिए वह मर्यादाओं की रेखाओं को जानकर चलता है।

सि क्यों, ति क्यों नहीं

हमारे संघ में उन्हीं दिनों व्याकरण के दो ग्रंथ तैयार हुए। मुनि चौथमल जी स्वामी और पंडित रघुनन्दन जी के संयुक्त प्रयास से 'भिक्षु शब्दानुशासन' तैयार हुआ और 'कालुकौमुदी' का प्रणयन मुनि चौथमल जी स्वामी ने किया। हम सबने 'कालुकौमुदी' का पाठ कंठस्थ करना शुरू किया और उसकी साधनिका भी प्रारंभ की। मेरी स्मृति और बुद्धि—दोनों का विकास हुआ नहीं था। मेरे और सब साथी साधनिका को हृदयंगम करते जाते थे, किंतु मुझे उसे समझने में बड़ी कठिनाई हो रही थी। बीदासर की घटना है। स्वरांत पुल्लिंग की साधनिका चल रही थी। हमें बताया गया 'जिन' शब्द की प्रथमा विभक्ति के एकवचन में 'सि' प्रत्यय का योग करने पर 'जिनः' रूप बनता है। मैंने पूछा—हम 'सि' ही क्यों जोड़ें? इसके स्थान पर 'ति' क्यों न जोड़ें? कितना अजीब प्रश्न था! कोई मेधावी छात्र ऐसा प्रश्न नहीं कर सकता। पर मैं बहुत छोटे गांव से निष्क्रमण कर आया था और गांव में मेधा या बुद्धि को विकसित होने का अवसर नहीं मिला, इसीलिए यह कठिनाई आ रही थी। आचार्य हरिभद्र ने 'ग्राम' शब्द की व्युत्पत्ति की है—जो बुद्धि आदि गुणों का ग्रास करता है, वह ग्राम है। बौद्धिक विकास के लिए एक वातावरण चाहिए। ग्राम में वैसा वातावरण नहीं मिलता, इसलिए ग्राम में रहने वालों की बुद्धि कुंठित हो जाती है। उनमें बुद्धि का बीज नहीं होता, ऐसा नहीं है। उसे प्रस्फुटित होने की सामग्री नहीं मिलती, यह एक सचाई है। मैं एक छोटा बच्चा था। मुझे बुद्धि के विकास और कुंठा—ये दोनों अवसर नहीं मिले। मेरी मंदता का कारण शायद अवस्था के साथ जुड़ा हुआ था। एक निश्चित अवस्था से पहले बुद्धि का विकास नहीं होना मेरी नियति को मान्य था।

गुरु का वात्सल्य

पूज्य कालूगणी जी को मैं बहुत प्रिय था। वे मुझ पर अनुशासन कम करते, करुणादृष्टि से प्लावित अधिक करते। श्रीडूंगरगढ़ की घटना है। सर्दी का मौसम था। मैं पूज्य गुरुदेव के सामने बैठा था। उन्होंने मेरे भावों को पढ़ा और पूछा—'क्या नाश्ता नहीं मिला?' मैंने कहा—'नहीं मिला।' 'क्या आजकल बंद हो गया?' मैंने कहा—'हां,

अभी बंद है।' पूज्य गुरुदेव ने तत्काल साध्वी सोनां जी से कहा—'नाश्ता ला दो।' टूटी हुई शृंखला फिर जुड़ गई। नाश्ता कोई बड़ी बात नहीं थी। प्रश्न है स्नेह का, करुणा का। यदि बालक को स्नेहपूर्ण वातावरण मिलता है तो विकास की संभावनाएं बढ़ जाती हैं। ताड़ना में सिकुड़न पैदा होती है और स्नेह में विकास। ताड़ना परिस्थिति विशेष में होने वाली विवशता है। स्नेह मनुष्य का निसर्ग है। स्नेह की भावना के साथ जल का सिंचन पा एक पौधा भी लहलहा उठता है तब मनुष्य की बात ही क्या! मैंने ताड़ना बहुत कम पाई और स्नेह बहुत अधिक पाया। विकास का निमित्त पाने में मैं सचमुच सौभाग्यशाली हूं।

हम उबर गए

पूज्य कालूगणी का एक विशेष स्वभाव था। उनके पास बैठे बाल मुनियों को वे कुछ न कुछ सिखाते रहते। एक बार उन्होंने हमें संस्कृत का एक श्लोक सिखाया—

बालसखित्वमकारणहास्यं, स्त्रीषु विवादमसज्जनसेवा।
गर्दभयानमसंस्कृतवाणी, षट्सु नरो लघुतामुपयाति।।

इस श्लोक का कुछ अनुदान हमें मिला। हम लघुता की दिशा में नहीं बढ़ना चाहते थे। संस्कृत के प्रति हमारा अनुराग बढ़ा और अकारण हंसने की आदत भी बदलने लगी।

एक बार उन्होंने हमें दोहा सिखाया—

हर डर गुरु डर गाम डर, डर करणी में सार।
तुलसी डरे सो ऊबरे, गाफिल खावे मार।।

इस दोहे ने एक भावना पैदा की। हम मुनि तुलसी से डरने लगे। मैं गोस्वामी तुलसी से परिचित नहीं था। मुनि बुद्धमल्ल जी भी परिचित नहीं थे। हमने उसका यही अर्थ लगाया कि पूज्य गुरुदेव हमें यह संबोध दे रहे हैं कि जो तुलसी से डरता है वह उबर जाता है। सचमुच हमने इस संबोध को स्वीकारा और हम उबर गए।

मैं पीछे नहीं रहूंगा

पूज्य कालूगणी हमारे अध्ययन के बारे में कभी-कभी जानकारी लेते थे। वे मुख्य रूप से मुनि तुलसी पर निर्भर थे। बीदासर की घटना है। पूज्य गुरुदेव ने सभी बाल साधुओं को अपनी-अपनी हस्तलिपि दिखलाने को कहा। मेरे सहपाठी और समवयस्क सभी साधुओं की हस्तलिपि सुंदर हो गई थी। मेरी हस्तलिपि सुंदर नहीं बन पाई। मेरी हस्तलिपि जैसे ही सामने रखी गई, पूज्य गुरुदेव मुस्करा दिए। उन्होंने कोई टिप्पणी नहीं की। मंत्री मुनि मगनलाल जी स्वामी वहीं बैठे थे। उन्होंने कहा—नाथू जी (वे मुझे इसी संबोधन से संबोधित किया करते थे) के अक्षर तो छत पर सुखाने जैसे हैं। छत पर उपले सुखाए जाते हैं। ये अक्षर भी वैसे ही टेढ़े-मेढ़े हैं। यह था उनके कहने का भाव। मुझे कुछ संकोच का अनुभव हुआ। बात वहीं समाप्त हो गई। अंतर्मन में बात समाप्त नहीं हुई। 'मैं पीछे नहीं रहूंगा, सबसे आगे जाऊंगा'—अंतश्चेतना में यह संकल्प जाग गया और दीक्षा-पर्याय के तीन वर्ष पश्चात् वह संकल्प बाह्य जगत में प्रकट होने लगा।

आंखों में दाने

पूज्य कालूगणी बीकानेर राज्य के थली प्रदेश से प्रस्थान कर जोधपुर चातुर्मास करने जा रहे थे। डीडवाना पहुंचते-पहुंचते मेरी आंखों में 'दाने' पड़ गए। उपचार किया पर कोई लाभ नहीं हुआ। आंखों से पानी बहने लगा। पाठ बिल्कुल बंद हो गया। मेरे सहपाठी साधुओं को आगे बढ़ने का अच्छा मौका मिल गया। डीडवाना में मुनि तुलसी को नाममाला सुना रहा था। उच्चारण में अशुद्धियां आने लगीं। मुनिवर ने उलाहने के भाव में कहा—मैं तुम्हें आगे कुछ नहीं पढ़ाऊंगा। आगे का अध्ययन बंद करो। जो ग्रंथ कंठस्थ किए हुए हैं, उन्हें शुद्ध करो, फिर आगे बढ़ो।

पाठ शुद्ध कैसे हुआ?

हम विहार करते-करते लूनी जंक्शन पहुंचे। पूज्य कालूगणी ने बालोतरा की ओर विहार किया और मेरी आंखों से पानी ज्यादा गिरने लगा, इसलिए मुझे मुनि हेमराज जी के साथ जोधपुर भेज दिया। पढ़ना बिल्कुल बंद था। मुनि हेमराज जी ने मुझे प्रोत्साहित किया—तुम प्रतिदिन कंठस्थ-पाठ का जितना पुनरावर्तन करोगे उतना मैं अंकित करता जाऊंगा और पूज्य कालूगणी के यहां पधारने पर उन्हें सब निवेदित कर दूंगा। मैंने पुनरावर्तन शुरू किया। अभिधान चिंतामणि के पंद्रह सौ से अधिक श्लोक हैं। एक दिन में कई बार उनका पुनरावर्तन कर लेता। ढाई मास के पश्चात् गुरुदेव चातुर्मास के लिए वहां पधारे। मुनि हेमराज जी ने मेरे पुनरावर्तन का लेखा-जोखा उनके चरणों में प्रस्तुत किया। वह पुनरावर्तन कई लाख श्लोकों की संख्या का हो गया था। पूज्य कालूगणी बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने मुझे साधुवाद दिया और साथ-साथ मुनि हेमराज जी को भी साधुवाद मिला। मैं अपने विद्यागुरु के पास गया। मैंने पाठ के पुनरावर्तन की बात बताई। वे प्रसन्न हुए, पर पूरे प्रसन्न नहीं हुए। उन्हें पता था कि मैंने गलतियों से भरे पाठ का ही पुनरावर्तन किया है। जब उन्हें दशवैकालिक, कालुकौमुदी का पूर्वार्द्ध और अभिधान चिंतामणि का पाठ सुनाया तो वे प्रसन्न ही नहीं हुए, आश्चर्य से भर गए।

'पाठ शुद्ध कैसे हुआ'—इस आश्चर्यपूर्ण प्रश्न का उत्तर कौन देता? मैं पुस्तक पढ़ता नहीं था, केवल पुनरावर्तन करता था। मुझे स्वयं भी पता नहीं लगा कि पाठ शुद्ध कैसे हो गया। आज उस घटना का उत्तर आसान लगता है। आंखें बाह्य जगत के साथ अधिकतम संपर्क स्थापित करती हैं और अधिकतम विक्षेप उत्पन्न करती हैं। उन दिनों आंखों का सहज ही संयम हो रहा था। बाहर जाने वाली चेतना भीतर में लौट रही थी और भीतर की सक्रियता बढ़ रही थी। कोई आश्चर्य नहीं कि जिस शुद्ध रूप में पाठ कंठस्थ किया था, उसी पाठ की चेतना जाग गई और पाठ-शुद्धि अपने आप घटित हो गई।

सफलता की ओर

मेरी अवस्था बदल चुकी थी। सबसे पीछे रहने वाला मैं अब दौड़ में आगे जाने की तैयारी करने लगा। मैंने निश्चय किया—अब मैं सबसे आगे रहूंगा। मैंने अपने साथियों से पूछा कि वे कालुकौमुदी के उत्तरार्द्ध का कौन-सा हिस्सा कंठस्थ कर रहे हैं, पर किसी ने बताया नहीं। मैंने कंठस्थ करने की गति तेज कर दी। चातुर्मास पूरा होते-होते मैं प्रायः सबसे आगे चला गया और पीछे किसी से भी नहीं रहा। चातुर्मास के मध्य में एक बार कालूगणी ने हम सब विद्यार्थियों की परीक्षा ली। उसमें भी मेरा स्थान अच्छा रहा। उस सफलता ने भावी सफलताओं का दरवाजा खोल दिया। 'मांढा' गांव में पाठ के उच्चारण की परीक्षा हो रही थी। पूज्य कालूगणी स्वयं परीक्षा ले रहे थे और मंत्री मुनि मगनलाल जी पास में बैठे थे। कुछ विद्यार्थी साधुओं की परीक्षा हो चुकी थी। मैं शौच से निवृत्त होकर कुछ विलंब से आया। मंत्री मुनि ने कहा—नाथू जी! आओ और इस पाठ का उच्चारण करो। मैंने उस पाठ को पढ़ा और उसमें सफल रहा। मंत्री मुनि बोले—आज तो यह बहुत सफल रहा है। तब पूज्य कालूगणी ने कहा—अभी बच्चा है। अभी सफलता का क्या पता चले?

पाली में मैंने पार्श्वनाथ स्तोत्र की प्रतिलिपि की। वह प्रति पूज्य गुरुदेव के सामने प्रस्तुत की। उन्होंने उसे देखा और प्रसन्नमुद्रा में कहा—'अब तुम्हारी लिपि ठीक हो गई है।' मुझे अपनी सफलता पर विश्वास होता गया।

कविता का द्वार खुल गया

पूज्य कालूगणी जोधपुर में चातुर्मास बिता रहे थे। भाद्रव शुक्ला पूर्णिमा उनके पट्टारोहण का दिन था। हम विद्यार्थी साधु भी गुरुदेव के अभिनंदन में कुछ बोलना चाहते थे। हमने मुनिवर से प्रार्थना की और उन्होंने हम सबके लिए श्लोक बना दिए। मुझे श्लोक पसंद नहीं आए। मैंने कहा—'आपने दूसरे साधुओं के लिए श्लोक अच्छे बनाए हैं, मेरे श्लोक उन जैसे नहीं हैं।' मुनिवर ने कहा—'तुम्हारे श्लोक अच्छे हैं।' मैं अपने आग्रह पर अड़ा रहा और आप मुझे समझाते रहे। आखिर मैं माना ही नहीं, तब आप बोले—'आज से यह प्रतिज्ञा है कि भविष्य में फिर तुम्हारे लिए श्लोक नहीं बनाऊंगा।' इस प्रतिज्ञा ने मेरे लिए कविता का द्वार खोल दिया। उस आग्रह पर जब-जब मैं उस श्लोक को पढ़ता हूं तो मुझे मेरे अज्ञान पर हंसी आती है। मैं मानता हूं कि मुनिवर ने जो निष्ठा का वरदान देना चाहा, उसे मैं समझ नहीं सका। मेरे न समझने पर भी उन्होंने वह वरदान मुझे दे दिया। तब मैं समझ सका कि श्लोक कितना मूल्यवान् है—

'तात के पुत्र अनेक हुवै पर नंदन के पितु एक कहावै,
ज्यूं घन के बहु इच्छु हुवै पिण चातक तो चित्त मेघ ही ध्यावै।
सागर के मच्छ-कच्छ हुवै बहु मीन तो चित्त समुद्र ही चावै,
त्यों गुरु के बहु शिष्य हुवै पिण एक गुरु नित शिष्य कै भावै।।'

मुनि तुलसी का प्रोत्साहन

प्रत्येक व्यक्ति के मन में विकास की, आगे बढ़ने की भावना रहती है। एक किशोर में भी यह भावना बीजरूप में रहती है। उसे प्रोत्साहन मिलता है तो वह प्रस्फुटित हो जाती है। मुनिवर मुझे बार-बार कहते—तुम श्रम नहीं करोगे तो पीछे रह जाओगे और पूरा श्रम करोगे तो सबसे आगे जा सकते हो। पीछे रहने की बात कभी अच्छी नहीं लगती। मन में एक स्पर्द्धा जाग गई और मैं सदा इस स्थिति में जागरूक हो गया। एक दृढ़ संकल्प जाग गया—मैं किसी से पीछे नहीं रहूंगा। पूज्य कालूगणी कहा करते थे—'बातेड़ी की बिगड़े'; 'जो बातूनी होता है, बातों में ही रस लेता है, पढ़ने में रस नहीं लेता, वह बिगड़ जाता है।' इस उक्ति ने मन पर चोट की और बातों में रस कम होने लगा। मुनिवर ने कितनी बार इस सचाई को समझाया—अभी तुम बातें करोगे तो जीवन भर दूसरों के नियंत्रण में रहना होगा। इस समय अध्ययन करोगे तो बड़े होने पर स्वतंत्र हो जाओगे। फिर चाहे जितनी बातें करना, कोई टोकने वाला नहीं होगा। युक्ति-संगत बात मन में घर कर जाती है। कोरा आक्रोश या कोरा उलाहना जहां प्रतिक्रिया पैदा करता है वहां युक्ति-संगत बात अंतःकरण को छू लेती है। सचमुच आकर्षण की धारा बदल गई। मन अधिक से अधिक ज्ञानार्जन करने के लिए उत्सुक हो गया।

धातुपाठ

उन दिनों कंठस्थ करने की परंपरा बहुत प्रचलित थी। मैं एक दिन पूज्य कालूगणी के पास पहुंचा। उन्होंने कहा—'अभी धातुपाठ कंठस्थ किया या नहीं?' मैंने कहा—'नहीं

किया।' उन्होंने कहा—'कंठस्थ करो।' मैंने उसे कंठस्थ कर लिया। मुनि तुलसी ने आचार्य हेमचन्द्र का प्राकृत व्याकरण कंठस्थ करना शुरू कर दिया। पूज्य गुरुदेव ने मुझे कहा—'तुम भी उसे कंठस्थ करो।' मुझे कुछ मानसिक संकोच हुआ—मैं मेरे विद्या-गुरु के साथ कैसे चल पाऊंगा? पर मुनिवर ने यही चाहा और प्राकृत व्याकरण को कंठस्थ करने में उन्होंने मुझे अपना साथी बना लिया।

स्वस्थता चर्म चक्षुओं की

मैंने जोधपुर में आंखों की चिकित्सा कराई। कुछ लाभ हुआ पर पर्याप्त लाभ नहीं हुआ। दानों की चुभन और पानी गिरना—ये चलते रहे। मुनिवर ने अनेक उपाय किए। वे केवल अध्ययन ही नहीं, जीवन की सारी व्यवस्था को संभाले हुए थे। आंख का प्रश्न बहुत बड़ा प्रश्न है। हम लोग 'खेरवा' में थे। आंखों की चुभन के कारण नींद नहीं आ रही थी। मन उद्वेलित हो उठा। मन में संकल्प और विकल्प का जाल-सा बिछ गया। सोचा, आंखों की यही स्थिति रही तो जीवन व्यर्थ ही चला जाएगा। मैं अध्ययन नहीं कर पाऊंगा और न ही विकास कर पाऊंगा। पूज्य गुरुदेव के साथ भी कैसे रह सकूंगा? क्या मुझे मुनिवर से भी अलग रहना पड़ेगा? लंबे समय तक ये संकल्प मुझे सताते रहे। फिर अचानक आस्था का स्वर जागा। रात के चार बजे होंगे। मन में अकल्पित शक्ति उतर आई। मन ही मन मैंने कहा—'मैं बिल्कुल ठीक हो जाऊंगा। मेरी आंखों की बीमारी ठीक हो जाएगी और मैं अपने लक्ष्य तक पहुंच जाऊंगा।' दिन में मैंने सारी बात मुनिवर को बताई। उन्होंने मुझे आश्वासन दिया। मेरा मन और अधिक हल्का हो गया। उन्होंने उपचार की ओर अधिक ध्यान दिया। अनेक औषधियों का प्रयोग किया, पर लाभ नहीं हुआ। उदयपुर में दानों को मिश्री से घिसना शुरू किया। उससे कुछ लाभ हुआ और बीमारी की भयंकरता समाप्त हो गई। मैं अनुभव करता हूं कि मेरे विद्यागुरु ने मुझे अंतश्चक्षु का ही दान नहीं दिया, चर्म-चक्षुओं का भी दान दिया है।

अप्रसन्नता के क्षण

मुनि छत्रमल जी व्याख्यान की सामग्री का संकलन करते थे। मेरे मन में भी यह भावना जागी। मैंने भी उसके संकलन का निर्णय किया। मुनिवर को पता चला। उन्होंने मनाही कर दी। मुझे ठेस लगी। उस समय उसकी जरूरत नहीं थी, पर विद्यार्थियों में होड़ चलती थी। कोई एक विद्यार्थी साधु व्याख्यान की सामग्री संकलित करे तो दूसरा कैसे नहीं करे? मैंने फिर आग्रह किया। मुनिवर अप्रसन्न हो गए। मैं इस विषय में बहुत जागरूक रहता कि वे अप्रसन्न न हों। पर कभी-कभार वे अप्रसन्न हो जाते तो उन्हें प्रसन्न किए बिना मुझे चैन नहीं मिलता। एक बार सायंकालीन प्रतिक्रमण के पश्चात् मैं उन्हें वंदना करने लगा। मैंने विनम्र स्वर में कहा—'मेरी कोई भूल हुई हो तो मुझे बताएं। मुझे क्षमा करें। आप अप्रसन्न न रहें।' वे नहीं बोले। मैं अपना हाथ उनके पैरों में टिकाए हुए वंदना की मुद्रा में बैठा रहा। फिर भी वे नहीं बोले। लगभग दो घंटे बीत गए। प्रहर रात आ गई। सोने का समय हो गया। वे पूज्य कालूगणी जी के पास चले गए और मैं मुनिश्री चम्पालाल जी स्वामी के पास सोने के लिए चला गया।

तादात्म्य

मुनिश्री चम्पालाल जी स्वामी मुनिवर के बड़े भाई थे। हमारी रहन-सहन की सारी व्यवस्था वे ही करते थे। हम दो व्यक्तियों के कठोर अनुशासन में चल रहे थे। मुनिश्री चम्पालाल जी स्वामी का अनुशासन भी बहुत कठोर था। वे हम लोगों पर काफी कड़ा नियंत्रण रखते और थोड़ी-सी भूल होने पर बहुत अप्रसन्न हो जाते। उन्हें प्रसन्न करना भी कोई सरल काम नहीं था। गाय दूध देती है तो उसकी चोट भी सह ली जाती है। हमें निरंतर दूध मिलने का अनुभव हो रहा था इसलिए हम उनकी अप्रसन्नता को भी सह लेते और उन्हें प्रसन्न करने में हमें अधिक प्रसन्नता का अनुभव होता। अनुशासन में रहने वाला व्यक्ति कितना पकता है और कैसे पकता है, इसका हमें अच्छा अनुभव है। हमारे अनुभव से दूसरे विद्यार्थी भी काफी लाभान्वित हो सकते हैं। अनुशासन की सबसे पहली शर्त है—तादात्म्य। उसके बिना अनुशासन करने वाला और उसे सहने वाला—दोनों ही सफल नहीं हो सकते।

अनुशासन को मैं बहुत व्यापक अर्थ में स्वीकार करता हूं। वह केवल निषेधात्मक नहीं है। अवांछनीय आचरण और व्यवहार को रोकना ही अनुशासन नहीं है। वह उसका एक छोटा-सा पक्ष है। अनुशासन का व्यापक स्वरूप है—विवेकशक्ति का विकास और नियंत्रण-शक्ति का विकास। विवेक और नियंत्रण की शक्ति का विकास होने पर व्यक्ति का जीवन स्वयं शासित हो जाता है। फिर उसके लिए दूसरे का अनुशासन जरूरी नहीं है। अनुशासन कुंठा पैदा करने की प्रक्रिया नहीं है। वह प्रक्रिया है आत्मानुशासन को जगाने की। हम कभी-कभार कुंठा पैदा करने वाले अनुशासन की सीमा में भी रहे, पर अधिकांशतः हम आत्मानुशासन जगाने वाले अनुशासन में ही पले। इसलिए अच्छाइयों को पकड़ने में हमारी अंतश्चेतना सदा गतिशील रही।

गुरु का अनुग्रह

पूज्य कालूगणी का मुझ पर बहुत अनुग्रह था। वे मेरे हितों का बहुत ध्यान रखते थे। लाडनूं की घटना है। भयंकर सर्दी का मौसम। हम लोग शौचार्थ जंगल में जाते थे। मैं प्रायः पूज्य गुरुदेव के साथ ही जाता था। एक दिन दूसरी दिशा में चला गया। पूज्य गुरुदेव ने स्थान पर आते ही पूछा—नत्थू कहां है? संतों ने कहा—वह मुनि तुलसी के लिए होमियोपैथी दवा लाने के लिए गया है। उन्होंने पूछा—सर्दी बहुत है। कंबल ओढ़कर गया या नहीं? संतों ने मेरी निश्रा के उपकरण देखे। कंबल वहीं पड़ा था। पूज्य गुरुदेव ने दो साधुओं को निर्देश दिया—'तुम कंबल ले जाओ और उसे कंबल ओढ़ा दो?'

इस घटना की मेरे किशोर-मन पर एक प्रतिक्रिया हुई। मन में अनुशासन का भाव जागा। पूज्य गुरुदेव मेरे हितों का इतना ध्यान रखते हैं तब उनका प्रत्येक आदेश-निर्देश हित की दृष्टि से ही होता है।

एक बार दो कंबल आए। एक मुझे लेना था और एक मुनि बुद्धमल्ल जी को। दोनों एक जैसे थे। एक बिल्कुल साफ था। एक पर कुछ धब्बे थे। मैंने कहा—यह साफ कंबल मैं लूंगा। मुनि बुद्धमल्ल जी ने भी वैसा ही आग्रह किया। हम दोनों का आग्रह देख पूज्य गुरुदेव ने वह किसी को नहीं दिया। दोनों कंबल अपनी पछेवड़ी (चादर) से ढांक लिए। उनके केवल दो सिरे बाहर निकाले और हम दोनों से कहा—जो इच्छा हो, वह एक सिरा पकड़ लो। हमने एक-एक सिरा पकड़ लिया। जो साफ-सुथरा था वह मुनि बुद्धमल्ल जी के हिस्से में चला गया। फिर भी मैं अप्रसन्न नहीं हुआ। सहज ही मेरे मन पर एक छाप पड़ी कि समता का मूल्य प्रियता से भी ज्यादा है।

गतिमान बनाने के प्रयत्न

मेरी गति व्यवस्थित नहीं थी। मैं चलता तब पैर इधर-उधर पड़ते। दोपहर के समय जब एकांत होता तब पूज्य गुरुदेव कहते—तुम चलो। मैं चलता तब उनका निर्देश मिलता—पैर ठीक ढंग से रखो। न जाने कितनी बार चलने का अभ्यास कराया। मैं मानता हूं कि यह मुझे गतिमान् बनाने का ही प्रयत्न था। कुछ छोटी-छोटी बातों से जीवन का निर्माण कैसे होता है, इसे केवल बड़ी बातों में विश्वास करने वाले नहीं समझ पाते। हम लोग स्थान से बाहर जाते हैं तब 'पछेवड़ी' के गांठ लगाकर जाते हैं। मैं प्रातःकाल पूज्य गुरुदेव के साथ बाहर जाने के लिए तैयार होकर वहां चला जाता। पूज्य गुरुदेव कहते—गांठ ठीक से नहीं लगी। वे उसे अपने हाथों से खोलते और फिर अपने हाथों से ही गांठ लगाते। लंबे समय तक यह सिलसिला चला। इस छोटी-सी घटना ने क्या यह पाठ नहीं पढ़ाया कि मन की जटिल ग्रंथियों को खोलना हम सीख जाएं और कोई गांठ पड़े तो भी वह इतनी उलझी हुई न हो, जिसे खोलना कठिन बन जाए।

अपाय : उपाय

मालवा की यात्रा हो रही थी। सर्दी का मौसम था। हमारी संघीय व्यवस्था के अनुसार सोने का स्थान विभाग से निश्चित होता है। हम दीक्षा-पर्याय में बहुत छोटे थे। दीक्षा-पर्याय में बड़े साधुओं को अच्छा स्थान मिल गया और हमें सोने के लिए एक खुला स्थान मिला, जिसके कई दरवाजे थे। किवाड़ बिल्कुल नहीं थे। मुनिश्री चम्पालाल जी स्वामी को पता चला, तब वे आए और उन्होंने हम सबसे कहा—अपने-अपने सिरहाने में जो नया कपड़ा है, वह निकालो। हमने निकाल दिए। उन्होंने कपड़ों को तानकर एक तंबू-सा खड़ा कर दिया। चारों ओर से बंद एक कपड़े का कमरा बन गया। हमने सीखा—हर अपाय के लिए उपाय होता है। यदि उपाय की मनीषा जाग जाए तो अपायों को निरस्त करने में कोई कठिनाई नहीं होती।

मेरे जैसे बनोगे?

पूज्य कालूगणी की जन्मभूमि छापर में मर्यादा-महोत्सव का आयोजन हो रहा था। मुनिवर वहां नहीं थे। शारीरिक अस्वस्थता के कारण लाडनूं में ही रह गए थे। सुखलाल जी स्वामी और मुनि अमोलकचंद जी लाडनूं से छापर आए। उन्होंने आचार्यवर से प्रार्थना की—मुझे वहां भेजा जाए। आचार्यवर ने उसे स्वीकार कर लिया। साध्वीप्रमुखा झमकू जी को इसका पता चला। मेरे रजोहरण का प्रतिलेखन वे करती थीं। मध्याह्न के समय मैं उनके पास गया। उन्होंने कहा—आप लाडनूं जा रहे हैं? मैंने कहा—जा रहा हूं। वे बोलीं—फिर आपको गुरुदेव अपने पास नहीं रखेंगे, सदा के लिए अलग विहार करने वाले साधुओं के साथ भेज देंगे। मैं कुछ असमंजस में पड़ गया। मैं पूज्य गुरुदेव के पास पहुंचा, साध्वीप्रमुखा ने जो बात कहीं, वह बता दी। पूज्य गुरुदेव ने मृदु मुस्कान के साथ कहा—तुम तुलसी के पास लाडनूं चले जाओ। कोई चिंता मत करो। मैंने मुनि-द्वय के साथ लाडनूं के लिए विहार किया। बीच में हम लोग एक दिन सुजानगढ़ रुके। वहां नथमल जी स्वामी का आतिथ्य स्वीकार किया। दूसरे दिन लाडनूं पहुंचे। मुनिवर ने तथा अन्य सभी साधुओं ने हमारी अगवानी की। अलग रहने में मुझे जो कठिनाई अनुभव हो रही थी, उसका समाधान हो

गया। अध्ययन फिर से चालू हो गया। मुनिवर को भी पूज्य कालूगणी से अलग रहने के कारण एक रिक्तता अनुभव हो रही थी। उसे यत्किंचित् मात्रा में भरने का श्रेय मुझे उपलब्ध हुआ, यह मैं मानता हूं।

एक दिन की घटना है। सभी साधु गोचरी के लिए गए थे। मैं मुनिवर के पास बैठा था। उन्होंने मुझे अध्ययन के लिए प्रेरणा दी, जीवन-विकास के कुछ सूत्र बताए और फिर कहा—तुम भी मेरे जैसे बनोगे? मैंने कहा—मुझे क्या पता? आप बनाएंगे तो बन जाऊंगा।

जीवन के आलोक-सूत्र

मुझे दूसरे साधु बहुत भोला समझते थे। मैं भोला अवश्य था, पर वे जितना समझते थे उतना नहीं था। सरलता मुझे प्रिय थी। कपट, प्रपंच, छलना और प्रवंचना से मुझे बहुत घृणा थी। मैं सबके प्रति निश्छल व्यवहार करना पसंद करता था। मैं अपने प्रति, अपने हितों के प्रति सतत जागरूक था। मैंने अपने लिए कुछ सफलता के सूत्र निश्चित किए थे। मैं ऐसा कोई काम नहीं करूंगा, जो मेरे विद्यागुरु को अप्रिय लगे। मैं ऐसा कोई काम नहीं करूंगा, जिससे मेरे विद्यागुरु को यह सोचना पड़े कि मैंने जिस व्यक्ति को तैयार किया, वह मेरी धारणा के अनुरूप नहीं बन सका। मैं किसी भी व्यक्ति का अनिष्ट चिंतन नहीं करूंगा। मेरी यह निश्चित धारणा हो गई थी—दूसरे का अनिष्ट चाहने वाला, उसका अनिष्ट कर पाता है या नहीं कर पाता, किंतु अपना अनिष्ट निश्चित ही कर लेता है। इन सूत्रों ने मेरा जीवन-पथ सदा आलोकित किया। मुझे कभी भी दिग्भ्रांत होने का अवसर नहीं मिला।

संधि-काल

गंगापुर में पूज्य कालूगणी जी का स्वर्गवास हो गया। समूचे संघ को वह वज्राघात जैसा लगा। मुनि तुलसी अब आचार्य हो गए। पहले वे हम से बहुत निकट थे। अब कुछ दूर-से लगने लगे। पहले केवल हमारे थे, अब वे सबके हो गए। ऐसा लगा, पहले जो करुणा की सघनता थी वह छितरा गई। पहले उसके भागीदार हम कुछेक साधु ही थे, अब हजारों-हजारों व्यक्ति हमारे सहभागी हो गए। उनसे अलग आहार करना भी अच्छा नहीं लग रहा था, पर अब सह-भोज भी संभव नहीं था। अध्ययन की व्यवस्था भी कुछ समय के लिए गड़बड़ा गई। ये सारे संधिकाल के अनुभव हैं। जैसे-जैसे समय बीता, वैसे-वैसे स्थितियों का नवीनीकरण होता गया।

दोहरी चोट

गंगापुर से विहार कर गुरुदेव बागोर पहुंचे। वहां मुझे एक नया अनुभव हुआ। आदेश की घोषणा की गई—पांच मिनट के भीतर सब साधु जहां गोचरी का विभाग होता है वहां चले जाएं, कोई अपने स्थान पर बैठा न रहे। हमारे संघ में आचार्य के आदेश का पालन बड़ी तत्परता के साथ होता है। सभी साधु अपने-अपने पात्र लेकर उस स्थल पर पहुंच गए। मैं भी पहुंच गया। जिस स्थान पर गोचरी का विभाग हो रहा था, उसके पास ही एक केलू का छपरा था। मैं वहां जाकर बैठ गया। शिवराज जी स्वामी ने मुझे देखा और बोले—बैठने की मनाही है, फिर तुम कैसे बैठे? मैंने कहा—यह विभाग का स्थल है। यहां बैठने की मनाही नहीं है। अपने-अपने स्थान पर बैठने की मनाही थी। मैं वहां से यहां आ गया। यह विभाग का स्थल है। यहां कोई खड़ा रहे या बैठे, इससे आपको क्या? वे हमारे संघ में 'कोतवाल' कहलाते थे। वे अनुशासन की क्रियान्विति का पूरा ध्यान रखते थे। बड़े जागरूक व्यक्ति थे। मेरा तर्क बहुत साफ था। फिर भी उनके गले नहीं उतरा। वे गुरुदेव के पास पहुंचे, सारी घटना गुरुदेव के सामने रख दी। गुरुदेव ने मुझे बुलाकर कहा—तुम वहां क्यों बैठे? मैंने अपना तर्क फिर दोहराया। गुरुदेव को मेरा तर्क मान्य नहीं हुआ। उन्होंने मुझे बहुत कड़ा उलाहना दिया। मैंने विनम्रभाव से उसे सुना और सहा। मैं कुछ भी नहीं बोला। चुपचाप अपने स्थान पर आ गया, किंतु मेरा मन प्रतिक्रिया से भर गया। मैं मन ही मन सोचता रहा—मेरा कोई प्रमाद नहीं हुआ। मैंने कोई गलती नहीं की। शिवराज जी स्वामी ने अपने आवेश के कारण मुझे फंसा दिया और गुरुदेव ने भी उनकी बात मानकर मुझे उलाहना दे दिया। यह प्रतिक्रिया लंबे समय तक मेरे मन पर होती रही। मैं काफी समय तक इस घटना को अपने मन से नहीं निकाल सका। यह कोई बहुत बड़ी बात नहीं थी। पर मेरे लिए यह बड़ी बात इसलिए बन गई कि मेरी भावना पर दोहरी चोट पहुंची। मैं कल्पना नहीं करता था कि गुरुदेव की इतनी प्रियता होते हुए भी अकारण ही उनसे इतना कड़ा उलाहना सुनना पड़ेगा। दूसरी बात, मेरे मन पर एक छाप थी कालूगणी के व्यवहार की। मैंने सुना था—पूज्य कालूगणी को आचार्यों से कभी उलाहना नहीं मिला। मेरे मन का भी संकल्प था कि मैं भी कभी गुरुदेव से उलाहना नहीं सुनूंगा। मेरा संकल्प टूटता-सा लगा, इससे मुझे बहुत आघात पहुंचा।

मंत्री मुनि की सीख

मैं कोई प्रमाद न करूं, कभी उलाहना न सुनूं, किसी के प्रति कोई अनिष्ट चिंतन न करूं, अध्ययन में किसी से पीछे न रहूं—इन छोटे-छोटे संकल्प-सूत्रों ने मेरी चेतना के जागरण में योग दिया, ऐसा मैं अनुभव करता हूं। जीवन-निर्माण में छोटी-छोटी बातें बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती

हैं। प्रतिक्रमण के पश्चात् मैं मंत्री मुनि श्री मगनलाल स्वामी के पास गया। उन्होंने सहजभाव में दो बोल कहे, वे मेरी अहंकार-मुक्ति की साधना में संबल बन गए। उन्होंने कहा—'विद्या का और गुरु-कृपा का अहंकार नहीं होना चाहिए। हम मुनि हैं। हम किस बात का अहंकार करें! मांगना बहुत छोटा काम है। हम रोटी के लिए दूसरों के सामने हाथ पसारते हैं, फिर अहंकार किस बात का? न जाने कितनी बार यह जीव बेर की गुठली बनकर पैरों में रौंदा जा चुका है। फिर अहंकार किस बात का?' इन छोटे-छोटे बोलों ने मन की गहरी परतों को छू लिया। अहंकार मेरी मृदुता पर कभी आक्रमण नहीं कर सका।

स्वतंत्र प्रवास

वि.सं. 2001 का चातुर्मासिक प्रवास मैंने सरदारशहर में किया। गुरुदेव के पास रहकर मैं जो अध्ययन कर सकता था, वह वहां नहीं हुआ। चातुर्मास के पश्चात् मैं फिर गुरुदेव के पास पहुंचा और फिर अध्ययन का क्रम चालू हो गया। एक मुनि ने कहा—'आपने इनको अलग क्यों भेजा?' गुरुदेव ने कहा—'इनका स्वभाव संकोचशील बहुत है। संकोच को कम करने के लिए मैंने इन्हें अलग भेजा। व्याख्यान देना बहुत जरूरी है। यहां मेरे पास व्याख्यान देने की कला भी नहीं सीखी जाती। इसलिए भी अलग भेजना जरूरी था।' मैं यह सारी बात एक तटस्थ श्रोता की भांति सुन रहा था। मैंने सोचा—मेरे आचार्य मेरे लिए जो भी प्रिय या अप्रिय करते हैं, वे किसी चिंतन के साथ करते हैं, मेरे हितों को ध्यान में रखकर करते हैं। इसलिए गुरुदेव जो भी करें, उसमें तार्किक बुद्धि का प्रयोग अपेक्षित नहीं लगता।

विश्वास का निदर्शन

मैं दर्शनशास्त्र और तर्कशास्त्र का विद्यार्थी था, फिर भी गुरुदेव के आदेशों-निर्देशों को प्रायः बिना तर्क के स्वीकार करने में सफल रहा हूं। मुझे गुरुदेव पर विश्वास रहा है और वे भी मुझ पर विश्वास करते रहे हैं। कलकत्ता में जापान की बमबारी हुई। तेरापंथी महासभा के पुस्तकालय की हजारों-हजारों पुस्तकें गंगाशहर में लाई गईं। गुरुदेव का वहां चातुर्मास हुआ। मुझे संस्कृत और प्राकृत की बहुत पुस्तकें पढ़ने का अवसर मिला। मैं मानता हूं, उस चातुर्मास में मेरे अध्ययन की नई दिशाएं उद्घाटित हुईं। मैं सायंकाल प्रतिक्रमण के पश्चात् गुरुदेव की वंदना करने गया। पास में ही मंत्री मुनि मगनलाल जी स्वामी बैठे थे। वंदना के अनंतर उन्होंने पूछा—आजकल क्या कर रहा है? मैंने कहा—कर्म-ग्रंथ पढ़ रहा हूं। तत्त्वार्थसूत्र की टीका पढ़ रहा हूं। और भी कुछ नाम गिनाए। वे तत्काल गुरुदेव की ओर मुड़े और बोले—महाराज! यह इतने ग्रंथ पढ़ रहा है। मूल धारणा में पक्का तो है न? कोई खतरा तो नहीं है? गुरुदेव ने कहा—कोई खतरा नहीं है। सब ठीक है। विश्वास विश्वास से बढ़ता है। गुरु जब इतना विश्वास करे तो शिष्य भी जी भर कर उस विश्वास की सुरक्षा का प्रयत्न करता है। मैंने इस सचाई को जीवन में अनेक बार साकार होते देखा है।

जीवन के पांच दशक

मेरे मुनि-जीवन का पांचवां दशक चल रहा है और मेरे विद्यार्थी-जीवन का भी पांचवां दशक चल रहा है। इन पांच दशकों में आचार्यश्री तुलसी ने मुझे जितनी प्रेरणाएं दीं, उतनी प्रेरणाएं एक गुरु ने अपने शिष्य को दीं या नहीं दीं, यह अनुसंधान का विषय है। शताब्दियों में ही कोई विरला गुरु होता है, जो अपने शिष्य को इतनी प्रेरणा देता है। मैंने केवल तेरह वर्ष के मुनि-जीवन का एक विहंगावलोकन किया है। प्रेरणा के मुख्य स्रोतों का अभी स्पर्श भी नहीं हुआ है। संस्कृत और प्राकृत जैसी प्राच्य भाषाओं का तलस्पर्शी अध्ययन, आशुकवित्व, दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन, साम्यवाद आदि राजनीतिक दर्शनों का अध्ययन, पश्चिमी दर्शनों का अध्ययन, आचार्य भिक्षु और श्रीमज्जयाचार्य के साहित्य का अध्ययन, जैन आगमों का शोधपूर्ण संपादन, प्रवचन की जनभोग्य शैली, जैन परंपरा में ध्यान की विच्छिन्न शृंखला का अनुसंधान और उसका प्रयोगात्मक रूप, प्रेक्षाध्यान के शिविरों का संचालन आदि-आदि अनेक बिंदु हैं, जो समय-समय पर मिली हुई प्रेरणाओं से दीर्घ रेखाओं में बदले हैं। उन सबकी चर्चा कभी अपनी आत्मकथा में करना चाहूंगा। एक निबंध में उसकी चर्चा संभव नहीं है।

सृजन की नियति

गुरुदेव ने एक कुशल शिल्पी और एक कुशल कर्मी के रूप में एक प्रतिमा को गढ़ा और ऐसे प्रस्तर की प्रतिमा को गढ़ा, जिसका कोई मूल्य नहीं था। प्रतिमा का इस प्रकार निर्माण किया कि उसे यह अनुभव भी नहीं होने दिया कि उसमें किसी विशिष्ट शक्ति का अवतरण या आरोपण किया जा रहा है। कोरा ज्ञान होता तो शून्य पूरा भरता नहीं। उसमें अहंकार को अपना आसन बिछाने का अवसर मिल जाता। ज्ञान के बाद ध्यान की प्रेरणा ने उस शून्य को भर दिया। यदि कोरा ज्ञान होता, ध्यान नहीं होता तो तेरापंथ के नेतृत्व को, सर्वोच्च पद को, उपलब्ध कर मन हर्ष से भर जाता। इस एकछत्र गरिमामय पद पर आचार्य द्वारा नियुक्ति होना एक महत्त्वपूर्ण अवसर है। इस अवसर पर अंतःकरण में समत्व का

भाव जागृत रहे, यह उस सृजन की ही विशेषता है, जिसमें ज्ञान और ध्यान के तत्त्व संतुलित रहे और उनकी फलश्रुति समता के रूप में प्रतिष्ठित रही। एक भाई ने कहा—युवाचार्य बनने के बाद भी शरीर का वजन नहीं बढ़ा, यह कैसे? कोई छोटा-मोटा पद प्राप्त होता है तो भी व्यक्ति शरीर में फूल जाता है, कुर्सी भर जाती है। इतना सर्वोच्च पद पा लेने पर भी परिवर्तन क्यों नहीं आया? मैंने स्मित मुस्कान के साथ कहा—गुरुदेव ने मुझे पहले योगी बना दिया और बाद में युवाचार्य बनाया। इसलिए ऐसा नहीं हो सकता। 'वपुः कृशत्वं'—ध्यान सिद्धि का पहला लक्षण है शरीर की कृशता। इसलिए मांसल होना शायद मेरी नियति में ही नहीं है। आदमी हर्ष से मोटा होता है पर मेरे आचार्य ने मुझे पहले ही समता में प्रतिष्ठित कर दिया, इसलिए विशिष्टता उपलब्ध होने पर हर्ष की बात भी मेरी नियति में नहीं है। मेरे सृजन की नियति है समता। इसका विकास ही मेरी दृष्टि में मेरी सफलता और मेरे सृजन की सफलता है।

नए उन्मेष

वि.सं. 2000 मेरे जीवन में नए उन्मेष का वर्ष है। चौबीसवें वर्ष में प्रवेश के साथ-साथ मुझे संस्कृत, प्राकृत और दर्शनशास्त्र के अनेक ग्रंथों के अध्ययन का सहज अवसर मिला। उसी वर्ष मैंने हिंदी में लिखना शुरू किया। मैं संस्कृत से एक साथ हिंदी में आया, इसलिए उस समय की मेरी हिंदी संस्कृतनिष्ठ ही रही, फिर भी हिंदी में लिखना मुझे अच्छा लगा। कुछ मुनियों का आग्रह था कि मैं 'पचीस बोल' की हिंदी में व्याख्या लिखूं। मेरे मन में संकोच था। हिंदी में मैंने कभी कुछ लिखा नहीं था। जो कुछ लिखना होता, वह सारा संस्कृत में ही लिखता। कभी-कभी प्राकृत में भी लिखता। ये दोनों पुरानी भाषाएं हैं। लोग इन्हें मृतभाषा कहते हैं। अतीत जीवित कैसे होगा? वह मृत ही होगा। जीवित केवल वर्तमान होता है। मैं मानता हूं, इसीलिए मैंने हिंदी को अपनाया। वह आज की भाषा है, इसलिए जीवित है। मैं भाषा के साथ-साथ दर्शन का विद्यार्थी रहा हूं। वह मेरा सर्वाधिक प्रिय विषय रहा है। उसको मैंने अनेकांत के आलोक में पढ़ा है। अनेकांत का विद्यार्थी किसी को सर्वथा जीवित अथवा सर्वथा मृत कैसे मान सकता है? अतीत में वर्तमान को जीवन देने की क्षमता है, तब उसे मृत ही कैसे मान सकते हैं? मैंने वर्तमान के साथ संपर्क स्थापित किया, पर अतीत के साथ स्थापित संपर्क को कभी कम नहीं किया। दोनों में संतुलन बना रहा। मैंने हिंदी में 'पचीस बोल' की व्याख्या लिखी और वह ग्रंथ 'जीव-अजीव' के नाम से प्रकाशित हुआ। यह मेरी पहली रचना थी, हिंदी के क्षेत्र में और दर्शन के क्षेत्र में भी।

अहिंसा

प्रो. हीरालाल रसिकदास कापड़िया अहिंसा के बारे में एक ग्रंथ का संकलन कर रहे थे। उन्होंने गुरुदेव के पास एक प्रस्ताव भेजा—आचार्य भिक्षु के अहिंसा संबंधी विचारों को उस ग्रंथ में मैं देना चाहता हूं। मुझे हिंदी में उनके विचारों का एक संकलन उपलब्ध कराएं। गुरुदेव उस समय चाड़वास (चूरू, राजस्थान) में विराज रहे थे। उन्होंने मुझे बुलाकर पूछा—'क्या तुम हिंदी में निबंध लिख सकते हो?' मैंने कहा—'लिख सकता हूं।' गुरुदेव ने कहा—'अहिंसा के संबंध में आचार्य भिक्षु के विचारों पर एक निबंध लिखो।' मैंने गुरुदेव के आदेश को शिरोधार्य किया और कार्य प्रारंभ कर दिया। कार्य की तात्कालिक क्रियान्विति में मेरा विश्वास रहा है, इसलिए किसी भी कार्य को अधर में लटकाए रखना मेरी प्रकृति में नहीं था। निबंध लिखने का कार्य शीघ्र संपन्न हो गया। यह 'अहिंसा' शीर्षक से एक लघु पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हुआ। अहिंसा के संबंध में आचार्य भिक्षु के विचार बहुत मौलिक हैं। शुद्ध साध्य की सिद्धि के लिए शुद्ध साधन का होना जरूरी है। इस सिद्धांत पर आचार्य भिक्षु ने बहुत बल दिया। मेरा अभिमत है कि इस सिद्धांत पर बल देने वाले और इस पर तार्किक पद्धति से विश्लेषण करने वाले भारतीय मनीषियों में आचार्य भिक्षु का स्थान अग्रणी है। महात्मा गांधी भी इस क्षेत्र में अग्रणी रहे हैं। 'अहिंसा' पुस्तिका उनके पास पहुंची। उन्होंने उस पर कई टिप्पणियां भी लिखीं और आचार्य भिक्षु के बारे में उनके मन में एक जिज्ञासा भी जागी।

भाष्यकार

उन दिनों हमारे धर्म-संघ को प्रबुद्ध लोग रूढ़िवादी मानते थे। दूसरे संप्रदाय के लोग कुछ सैद्धांतिक प्रश्न उपस्थित कर तेरापंथ के व्यवहार को विघटित करने वाला बतलाते थे। इस स्थिति में हम एक वैचारिक अवरोध का अनुभव कर रहे थे। गुरुदेव के मन में उस अवरोध को मिटाने की तड़प जागी। उन्होंने आचार्य भिक्षु के सिद्धांतों को दर्शन की भाषा और शैली में प्रस्तुत करना शुरू किया। मुझे प्रारंभ से ही यह सौभाग्य मिला है कि मैं उनकी हर कृति में उनके साथ रहा। जयाचार्य को आचार्य भिक्षु का भाष्यकार होने का सौभाग्य मिला तो मुझे आचार्य तुलसी का भाष्यकार होने का सौभाग्य मिला और साथ-साथ आचार्य भिक्षु का भाष्यकार होने का सौभाग्य भी मुझे उपलब्ध हुआ।

गुरुदेव ने 'जैन सिद्धांत दीपिका' नामक एक संस्कृत ग्रंथ लिखा। उसके एक अध्याय में आचार्य भिक्षु के सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। दर्शन के स्तर पर सूत्र की शैली में

आचार्य भिक्षु के सिद्धांतों को प्रस्तुत करने का यह पहला प्रयत्न था। एक दिन डॉ. सतकोड़ि मुखर्जी को मैंने वह अध्याय सुनाया। उसे सुनकर डॉ. मुखर्जी ने कहा—यह बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है। इतने दिन प्रकाश में क्यों नहीं आया? खेद है, आचार्य भिक्षु मारवाड़ में जन्मे। यदि वे जर्मनी में जन्मे होते तो उनका महत्त्व इम्युअल कांट से कम नहीं होता। डॉ. मुखर्जी के विचारों से मुझे एक संतोष का अनुभव हुआ। आचार्य भिक्षु के जिस दृष्टिकोण को आचार्यश्री तुलसी दार्शनिक शैली में प्रस्तुत कर रहे हैं और मैं जिसका भाष्य कर रहा हूं, वह दृष्टिकोण सारयुक्त और वर्तमान की समस्या को समाधान देने वाला है। प्रारंभ से ही मेरी यह दृष्टि रही कि जो दर्शन या धर्म वर्तमान समस्या का समाधान नहीं देता, वह उपयोगी नहीं हो सकता और जो उपयोगी नहीं हो सकता, वह चिरजीवी नहीं हो सकता। बासी चीज की उपयोगिता कम होती जाती है और एक दिन वह फेंक दी जाती है।

उन्नीसवीं सदी का नया आविष्कार

आचार्य भिक्षु ने एक सूत्र दिया था—बड़े जीवों की रक्षा के लिए छोटे जीवों को मारना अहिंसा नहीं है। छोटे जीवों को मारकर बड़े जीवों का पोषण करना अहिंसा नहीं है। इस सूत्र ने मुझे बहुत आंदोलित किया। मैंने मार्क्स और लेनिंन के साहित्य को देखा। सामाजिक शोषण और असमर्थ लोगों के प्रति होने वाली क्रूरता के प्रति एक विशेष संवेदना जाग उठी। दान के नाम पर चलने वाले छद्म के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण निर्मित हुआ। मैंने एक लघु पुस्तिका लिखी। उसका शीर्षक था—'उन्नीसवीं सदी का नया आविष्कार।' इस पुस्तिका पर कुछ जैन पत्रों ने टिप्पणी की—'मुनि नथमल जी साम्यवादी हो गए हैं।' राजनीतिक प्रणाली के अर्थ में मैं साम्यवादी नहीं बना, पर मार्क्स की विचारधारा के प्रति मेरा झुकाव निश्चित ही रहा। अच्छे साध्य के लिए अशुद्ध साधन को काम में लाया जा सकता है—इस साम्यवादी सिद्धांत के साथ मैं कभी सहमत नहीं हो सका। आचार्य भिक्षु के 'शुद्ध साध्य के लिए शुद्ध साधन' की अमिट छाप मेरे मन पर अंकित थी। उन दिनों गांधी जी के विचार बहुत चर्चित हो रहे थे। वे भी शुद्ध साध्य के लिए शुद्ध साधन के सिद्धांत पर बल दे रहे थे। दार्शनिक संदर्भ में आचार्य भिक्षु ने और राजनीतिक प्रणालियों के संदर्भ में महात्मा गांधी ने इस सिद्धांत पर जितना बल दिया, उतना शायद कम विचारकों ने दिया। इसीलिए हरिभाऊ उपाध्याय कहा करते थे—'अध्यात्म और राजनीति की पृष्ठभूमि को अलग रखने पर आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी के अहिंसा संबंधी विचार में मुझे कोई अंतर नहीं लगता।' आचार्य भिक्षु को पढ़ने के पश्चात् मैंने महात्मा गांधी को पढ़ा। अहिंसा के विषय में दोनों के विचारों में अद्‌भुत समानता पाई। अहिंसा मेरा प्रिय विषय बन गया और वर्षों तक मैं इसी विषय पर लिखता रहा और जीवन में प्रयोग भी करता रहा।

अहिंसा के बीज

आचार्यश्री तुलसी का चातुर्मासिक प्रवास (वि.सं. 2011) मुंबई में हुआ। परमानंद कापड़िया ने तेरापंथ की अहिंसा विषयक दृष्टि पर एक समीक्षा लिखी। उसमें छिछली आलोचना नहीं थी। आलोचना का स्तर अच्छा था। इससे पूर्व तेरापंथ के अहिंसा विषयक सिद्धांत की इस स्तर की आलोचना नहीं निकली थी। लेख गुजराती भाषा में था। उसका शीर्षक था—'अहिंसा की अधूरी समझ।' आचार्यश्री तुलसी ने वह लेख पढ़ा और मुझे बुलाकर कहा—'अब तक हमने आलोचना का प्रत्युत्तर नहीं दिया। पहली बार यह स्तर की आलोचना निकली है, जिसमें गाली-गलौज नहीं किंतु एक चिंतन है। अब हमें इसका प्रत्युत्तर देना चाहिए। तुम एक लेख लिखो।' मैंने उस पर 'अहिंसा की सही समझ' शीर्षक एक लेख लिखा। श्रीचन्द जी रामपुरिया ने कापड़िया का और मेरा—दोनों लेख 'जैन भारती' पत्र में एक साथ छापे। कापड़िया ने 'प्रबुद्ध जीवन' में लिखा—'मेरे लेख में कहीं-कहीं व्यंग्य भी है, कटूक्तियां भी हैं, किंतु मुनिश्री नथमल जी ने जो लेख लिखा है, उसमें केवल समीक्षा है, न कोई व्यंग्य और न कोई कटूक्ति।' इससे मैं बहुत प्रभावित हुआ। यदि मेरे मन में अहिंसा के बीज अंकुरित नहीं होते तो मैं व्यंग्य और कटूक्ति से शायद नहीं बच पाता।

यथार्थ की प्रस्तुति

मैं जैन मुनि बना। जैन दर्शन मेरे अध्ययन का विषय बना। फिर भी इस स्वीकृति को मैं अवश्य मानता हूं कि गांधी साहित्य से मुझे जैन धर्म को आधुनिक संदर्भ में पढ़ने की प्रेरणा मिली। मैंने एक पुस्तक लिखी। उसका नाम था—'आंखें खोलो।' उसके पांच अध्याय थे। उसमें एक अध्याय था—जातिवाद। आचार्यश्री तुलसी ने उसे देखकर कहा—यह पुस्तक बाहर जाएगी तो समाज में इससे बहुत चर्चा होगी। अभी इसे रहने दो। फिर दो क्षण के चिंतन के बाद कहा—यह वास्तविकता है। जैन धर्म में जातिवाद के लिए कोई स्थान नहीं है। फिर चर्चा से क्यों डरना चाहिए? पुस्तक सामने आ गई। कुछ ऊहापोह हुआ। साथ-साथ यथार्थ को प्रस्तुत करने का मुझे संतोष भी मिला।

व्यापक दृष्टि

गांधी साहित्य के माध्यम से मैंने रस्किन और टॉलस्टॉय को पढ़ा तो मुझे और अधिक व्यापक संदर्भ में चिंतन करने का अवसर मिला। आचार्य भिक्षु ने संप्रदायातीत धर्म की नींव को बहुत मजबूत किया था। उन्होंने इस पर बहुत बल दिया कि धर्म मुख्य है, संप्रदाय गौण। यही सूत्र अणुव्रत के प्रवर्तन का आधार बना। गुरुदेव ने अणुव्रत आंदोलन का प्रवर्तन किया, तब उसकी समीक्षा इन स्वरों में हुई—आचार्यश्री तुलसी जैन और अजैन—सभी को एक पंक्ति में ला रहे हैं। यदि आचार्य भिक्षु के दृष्टिकोण का सुदृढ़ आधार उपलब्ध नहीं होता तो काफी समस्याएं सामने आतीं पर उस उदार दृष्टि ने सामने आने वाली हर समस्या को चिरजीवी नहीं बनने दिया।

मौलिक विचार

अणुव्रत आंदोलन को दार्शनिक दृष्टि से प्रस्तुत करने का अवसर मिला। उससे मैं बहुत लाभान्वित हुआ। अतीत के चिंतन को वर्तमान की समस्याओं के संदर्भ में देखने की एक दृष्टि मिली और कुछ मौलिक विचार प्रस्थापित हुए। धर्म के विषय में यह प्रसिद्ध धारणा है—धर्म करो, परलोक सुधर जाएगा। धार्मिकों को वर्तमान की कोई चिंता नहीं, केवल परलोक को सुधारने की चिंता है। धार्मिक व्यक्ति उपासना में विश्वास करता है, चरित्र में विश्वास कम करता है। नैतिकता का आचरण आवश्यक नहीं माना जाता। नैतिकताविहीन धर्म भी चलता है। अणुव्रत आंदोलन के माध्यम से बहुत सारे प्रबुद्ध विचारक व्यक्ति संपर्क में आए और पारस्परिक आदान-प्रदान में कालातीत और सामयिक—दोनों प्रकार की सचाइयों को समझने का अवसर मिला। अणुव्रत के मंच पर सभी धर्मों और विचारधाराओं के लोग आने लगे और सभी को सुनने का अवसर मिलता गया। उससे समन्वय की दृष्टि को बहुत बड़ा बल मिला। मैं दर्शन का विद्यार्थी रहा। जैन दर्शन को पढ़ा। साथ-साथ अन्य दर्शन भी पढ़े। अनेकांत को पढ़ने के कारण अन्य दर्शनों के प्रति अन्यत्व का भाव नहीं रहा। सत्य सत्य है, फिर उसे किसी भी दर्शन ने अभिव्यक्त किया हो। यही दृष्टि निष्पन्न हुई। अब मेरे सामने दर्शन दर्शन है, सत्य सत्य है, और सब भेद गौण हैं।

ध्यान की दिशा में

एक बार मुझे प्रतिश्याय (सर्दी-जुकाम) हुआ और वह बिगड़ गया। एलोपैथी और आयुर्वेदिक इलाज कराए पर कोई लाभ नहीं हुआ। स्थिति चिंतनीय बन गई। फिर प्राकृतिक चिकित्सा का योग मिला। मैं स्वस्थ हो गया। एक प्रेरणा जागी। लूई पूने को पढ़ा, और भी प्राकृत चिकित्सा की बीसों पुस्तकें पढ़ीं। वहीं से मेरे योग-जीवन का प्रारंभ हुआ। आसन और प्राणायाम के साथ-साथ ध्यान की रुचि जागृत हुई। मैंने ध्वनि चिकित्सा का भी प्रयोग किया। उदात्त स्वर में बीज-मंत्रों की ध्वनि करने पर मैं कुछ हास्यास्पद भी बनता रहा, फिर भी कोई अंतःप्रेरणा काम कर रही थी। मैं उस प्रयत्न को नहीं छोड़ सका। गुरुदेव की मुझ पर अनंत करुणा रही। मैं जो काम करता, उसमें उनका अनुमोदन और प्रोत्साहन मिल जाता। गुरुदेव ने स्वयं प्राकृतिक चिकित्सा का प्रयोग किया। आसन, प्राणायाम और ध्यान के प्रयोगों का भी उन्होंने सर्वात्मना समर्थन किया। धीरे-धीरे उन सबकी जड़ें हमारे संघ में गहरी होती चली गईं।

करुणा की धारा

मैं इसे निसर्ग ही मानता हूं कि मेरे मन में क्रूरता की अपेक्षा करुणा अधिक प्रवाहित है। कोई भी व्यक्ति अपने में क्रूरता न होने का दावा नहीं कर सकता। करुणा और क्रूरता—दोनों धाराएं हर व्यक्ति में प्रवाहित होती रहती हैं—कोई बड़ी और कोई छोटी। असमर्थ वर्ग के प्रति समर्थ वर्ग के अतिक्रमणों की चर्चा जब-जब सुनता हूं, तब-तब मन करुणा से भर जाता है। हमारी दुनिया के इतिहास में एक बहुत बड़ा भाग अन्याय के इतिहास का है, यह स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होती। रोटी, वस्त्र आदि पदार्थ संबंधी कठिनाइयों को हल करने में भी मनुष्य सफल नहीं हो रहा है, तब अन्यान्य की कठिनाइयों को हल करना तो और भी अधिक कठिन कार्य है। क्या यह सरल हो सकता है? यह प्रश्न आज भी मेरे लिए प्रश्न ही बना हुआ है।

साहित्य जगत से संपर्क

साहित्यिक रुचि प्रारंभ से थी। संस्कृत में कविताएं, कहानियां लिखना चलता ही था। फिर हिंदी में कविताएं लिखनी शुरू कीं। निबंध भी लिखे। तब हिंदी जगत के साहित्यकारों से संपर्क बढ़ने लगा। जैनेन्द्रकुमार, मैथिलीशरण गुप्त, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सियारामशरण गुप्त, रामधारीसिंह 'दिनकर', कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' आदि साहित्यकारों से संपर्क हुआ। केवल संपर्क ही नहीं हुआ, आत्मीय भाव भी बना। फिर भी मन में एक असंतोष उभरता रहता था। वह बार-बार अंतःकरण को कचोटता रहता था। क्या विचार ही अंतिम यात्रा है? क्या साहित्य-साधना ही अंतिम यात्रा है? क्या इससे आगे और कुछ नहीं है? आधुनिक युग का व्यक्ति होने के लिए आधुनिक ढंग से सोचना, आधुनिक भाव-भाषा और शैली में लिखना पर्याप्त

है पर आधुनिकता पूर्ण सत्य तो नहीं है। वह एक सामयिक सत्य है। पूर्ण सत्य त्रैकालिक होता है, केवल सामयिक नहीं होता।

विश्वास शाश्वत में

एक बार हम लोग प्रभुदयाल डाबड़ीवाला के घर पर ठहरे हुए थे। सूर्यास्त होने को था। डॉ. राममनोहर लोहिया वहां आए। कुछ समय हम लोग बात करते रहे। सूर्यास्त हो गया। डॉ. लोहिया ने उठते हुए कहा—चलें, हम भोजन करें। मैंने कहा—सूर्यास्त हो गया। अब भोजन नहीं कर सकते। वे बोले—आप आधुनिक मुनि हैं, फिर यह कैसा प्रतिबंध? मैंने इसका प्रतिवाद किया—'मैं आधुनिकता में विश्वास नहीं करता, शाश्वत में विश्वास करता हूं। जो शाश्वत में विश्वास करता है, उसका विश्वास आधुनिकता में होगा ही, पर केवल आधुनिकता में नहीं होगा। मैं मुनित्व को प्रत्यक्ष ज्ञान की साधना मानता हूं। वह त्रैकालिक के बोध से ही संभव हो सकती है। केवल आधुनिकता हमें बहुत दूर तक नहीं ले जा सकती।'

जीवन-व्रत

आचार्यश्री तुलसी के अत्यंत निकट साहचर्य में मैं रहा। राजनीतिक और सामाजिक कार्यकर्त्ता, साहित्यकार, पत्रकार आदि सभी प्रकार के लोगों से विचार-विनिमय करने का अवसर मिला। धर्म में अति श्रद्धा रखने वाले और धर्म को अस्वीकार करने वाले, दोनों प्रकार के लोगों से संपर्क होता रहा, पर मैंने उनमें से बहुत लोगों को तनाव की मनःस्थिति में पाया। मुझे लगा, तनाव वर्तमान की सबसे बड़ी समस्या है। जो गलत निर्णय होते हैं, वे सब तनाव की मनःस्थिति में होते हैं, इसलिए वर्तमान में मानव जाति को तनाव-मुक्ति का मार्ग बतलाना उसकी सबसे बड़ी सेवा है। मैंने इसे अपना जीवन-व्रत बनाया। मुनि अपनी समस्याओं को सुलझाने के लिए जीवन की यात्रा शुरू करता है, किंतु अपनी समस्याएं केवल अपनी ही नहीं होतीं, वे दूसरों की भी होती हैं। दूसरों की समस्याएं केवल दूसरों की ही नहीं होतीं, वे अपनी भी होती हैं। अपने और दूसरों के बीच में कोई ऐसा लोहावरण नहीं है जिससे एक की समस्या दूसरे में संक्रांत न हो। इसलिए समस्या के समाधान का मार्ग सबके लिए सुलभ होता है, इसे मैं श्रेय मानता हूं। मेरी दृष्टि में यह जीवन का सबसे बड़ा सृजनात्मक प्रश्न है। शायद रोटी की उपलब्धि से भी इसका अधिक मूल्य है।

❖

श्रेष्ठतम

तीन वैद्य थे। पहले वैद्य का प्रयत्न ऐसा होता जिससे किसी के रोग हो ही नहीं। दूसरा वैद्य रोग होते ही ओषधि दे रोगी को स्वस्थ बना देता। तीसरा वैद्य रोग को बढ़ने देता और जब वह असाध्य-सा हो जाता तब ऐसी पुड़िया देता कि रोगी स्वस्थ हो जाता। लोग उसे बहुत बड़ा वैद्य मानने लगे। सारे नगर में उसका प्रभाव फैल गया। एक दिन उसके प्रशंसक उसका यश गा रहे थे, तब तीसरे वैद्य ने कहा 'श्रेष्ठतम वैद्य मेरा बड़ा भाई है, जो रोग होने ही नहीं देता। मेरा दूसरा भाई श्रेष्ठतर है, जो रोग होते ही रोगी को स्वस्थ कर देता है। उनका कार्य आपके सामने नहीं आता, इसलिए आप लोग उसका मूल्य नहीं आंक सकते। मेरा कार्य आपके सामने आता है, इसलिए उसका मूल्य आंका जाता है।'

—**'चिन्तन का परिमल'** से

जो जीवनमुक्त होता है वह संप्रदाय से सहज ही मुक्त हो जाता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ का दर्शन, ज्ञान और आचरण केवल जैन का प्रतिनिधित्व नहीं करता, पूरे भारतीय चिंतन के उस नवनीत का प्रतिनिधित्व करता है, जिसका नाम है—जीवनमुक्ति। ईसा ईसाई नहीं है, लेकिन ईसाइयों के उपास्य ईसा हैं। बुद्ध बौद्ध नहीं है, लेकिन बौद्धों के उपास्य बुद्ध हैं। जैनों के उपास्य आचार्यश्री महाप्रज्ञ हैं, किंतु आचार्यश्री महाप्रज्ञ जैन नहीं हैं, वे जिन हैं।

महाप्रज्ञ : जैन नहीं जिन

डॉ. दयानंद भार्गव

भारतीय परंपरा शब्द और अर्थ में अविनाभाव संबंध मानती है। शब्द और अर्थ परस्पर इस प्रकार जुड़े हुए हैं कि दोनों को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। इसी भाव को लेकर महाकवि कालिदास ने कहा था—वागर्थाविव संपृक्तो।

विगत तीन दशक से भी अधिक आचार्यश्री महाप्रज्ञ की शाश्वत साधना तथा अध्यात्म आराधना का निकट का साक्षी रहने के नाते यह कहा जा सकता है कि अपने जीवन में उन्होंने शाश्वत साधना से जिन आगम शब्दों को अपने लेखन और वक्तव्यों में साधा, उन्होंने आगम शब्दों के अर्थों को अपनी आध्यात्मिक आराधना के अंतर्गत कुछ इस प्रकार जीया भी कि आगम का शब्द ब्रह्म और उनकी जीवन यात्रा का इतिहास एक प्रकार से एकाकार हो गए। आगम न पढ़ें, केवल आचार्यश्री महाप्रज्ञ की जीवन यात्रा को पढ़ लें तो आगम का मर्म समझ में आ जाएगा। ठीक इसी तरह कोई उनकी जीवन यात्रा को न पढ़ें, केवल आगम को पढ़ ले तो उसे आचार्यश्री महाप्रज्ञ की जीवन यात्रा का विकास स्वतः ज्ञात हो जाएगा। ऐसा अद्भुत तादात्म्य आगम और आचार्यश्री महाप्रज्ञ के जीवन सूत्र में है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ के नाम और रूप तो बदले हैं पर वह तो उनका उत्पादव्यय पक्ष है। इससे उनके जीवन यात्रा की दिशा नहीं बदली। यह उनका ध्रुव पक्ष है। जब उनका नाम मुनि नथमल था तो 'जैन दर्शन : मनन और मीमांसा' जैसे ग्रंथ के लेखक के रूप में उनका दार्शनिक रूप प्रखर था। जब वे युवाचार्य महाप्रज्ञ बने तो 'महावीर की साधना का रहस्य' ग्रंथ के लेखक के रूप में उनका साधक रूप उभरकर आया। अब आचार्यश्री महाप्रज्ञ के रूप में 'महावीर का अर्थशास्त्र' लिखकर वह कार्य कर रहे हैं जो आचार्य का स्वधर्म है—समाज को आचार बोध की दिशा देना—आचारमाप्नोतीति।

दार्शनिक, साधक और आचार्य के इन तीन नाम-रूपों के सोपानों को पार करते हुए एक चारित्रात्मा अब द्रष्टा बन चुका है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ अब कर्तृत्व के रूप से ऊपर उठ कर द्रष्टा और ज्ञाता का जीवन जी रहे हैं। वे अपने शरीर से जो कुछ करते हैं, मानो वह उनका शरीर ही करता है, वे स्वयं कुछ नहीं करते। अकर्त्ता रहकर केवल उसे साक्षी-भाव से देखते भर हैं। वे जो कुछ बोलते हैं या सोचते हैं वह उनकी वागेंद्रिय बोलती है और मन सोचता है। वे स्वयं अछूते रहकर उस बोलने व सोचने को केवल देखते हैं। ऐसा आभास होता है।

घटना काफी पुरानी है। दिल्ली विश्वविद्यालय से 'जैन एथिक्स' पर मैं पीएच.डी. की उपाधि ले चुका था और आचार्यश्री भी तब मुनि नथमल ही थे। एक मुलाकात में मैंने पूछा—'जैन-धर्म अहिंसा की रट लगाए हुए है। किसी को दुख नहीं देना है, यह बहुत मामूली बात है, जिसे एक छोटा बच्चा भी बतला सकता है। महावीर ने यह बात बताकर

कौन-सी बड़ी बात कर दी।' मुनि नथमल ने उत्तर दिया—'महावीर का एक संदेश अपरिग्रह भी है। अपरिग्रह परम धर्म है, अहिंसा भी तभी संभव है।' मैं तत्काल समझ गया कि जैन-धर्म का लक्ष्य क्या है? मांस नहीं खाएंगे, रात्रि भोजन नहीं करेंगे जैसे नियमों का पालन करने वाले करोड़ों हैं, पर आवश्यकता से अधिक परिग्रह नहीं रखेंगे—इस नियम का पालन करने वाला करोड़ों में कोई महात्मा गांधी या आचार्य विनोबा भावे ही होता है।

यह तो सिर्फ एक सूत्र है, ऐसे अनेक सूत्र हैं। एक जिज्ञासा के समाधान के लिए एक बार मैंने आचार्यश्री महाप्रज्ञ से पूछा—'आप व्युत्थान के समय भी समाधिस्थ रह लेते हैं, संघ के सारे क्रिया-कलापों को करते हुए भी आप समता में स्थित रह पाते हैं, यह कैसे संभव होता है?' आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने पहले तो अपनी चिरपरिचित करूण स्मित बिखेर दी और फिर बोले—'बाहर ये सब कार्य करते हुए भी अंतर की स्मृति को बनाए रखना चाहिए। यदि इंद्रियों के द्वारा रूप, रस, शब्द ग्रहण करने पर भी उनके प्रति राग-द्वेष न रहे तो मनुष्य सब कर्म करते हुए भी समाधिस्थ ही रहता है।' आचार्यश्री महाप्रज्ञ की जीवनमुक्तता का यही रहस्य है और महावीर की देशना का भी यही मर्म है।

जो जीवनमुक्त होता है वह संप्रदाय से सहज ही मुक्त हो जाता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ का दर्शन, ज्ञान और आचरण केवल जैन का प्रतिनिधित्व नहीं करता, पूरे भारतीय चिंतन के उस नवनीत का प्रतिनिधित्व करता है, जिसका नाम है—जीवनमुक्ति। ईसा ईसाई नहीं है, लेकिन ईसाइयों के उपास्य ईसा हैं। बुद्ध बौद्ध नहीं है, लेकिन बौद्धों के उपास्य बुद्ध हैं। जैनों के उपास्य आचार्यश्री महाप्रज्ञ हैं, किंतु आचार्यश्री महाप्रज्ञ जैन नहीं हैं, वे जिन हैं।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ एक संघ के आचार्य हैं। वे व्यक्ति के रूप में साधना के चरमोत्कर्ष पर पहुंच गए, किंतु उनके आचार्यत्व में संघ को अभी अपना लक्ष्य प्राप्त करना है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने प्रेक्षाध्यान की संजीवनी हमें दी, किंतु संघ के कितने श्रावक-श्राविकाओं ने उनका सेवन करना स्वीकार किया है, यह एक बड़ा प्रश्न है।

जैन विश्व भारती में मैं देखता हूं कि अनेक श्रावक-श्राविकाएं तुलसी अध्यात्म नीडम् देखने आते हैं, वे नीडम् को ऐसे देखते हैं जैसे ताजमहल या कुतुबमीनार देख रहे हैं। नीडम् ताजमहल नहीं है, एक तीर्थ है जिसमें स्नान करके मन का मैल धोया जाता है। जब तक श्रावक-श्राविकाएं इसे ताजमहल की तरह देखेंगे और ध्यान के निर्झर में स्नान करने से कतराते रहेंगे तब तक वे आचार्यश्री महाप्रज्ञ के सुपात्र शिष्य कहलाने के अधिकारी नहीं हो पाएंगे।

जीवन विज्ञान और प्रेक्षाध्यान का ही परिपूरक एक व्यावहारिक उपक्रम है—अणुव्रत। परमार्थतः एक आध्यात्मिक साधना है, किंतु व्यवहारतः अणुव्रत एक सामाजिक उपक्रम है। गुरुदेव तुलसी और आचार्यश्री महाप्रज्ञ का अनुयायी होने का गर्व करने वाला समाज यदि अणुव्रत का प्रभाव सामाजिक रूप में प्रदर्शित नहीं कर सकता तो इसे अणुव्रत सिद्धांत का दोष नहीं अपितु उस सिद्धांत के मानने का दावा करने का दोष कहा जाएगा।

जैन समाज को व्यापारियों का समाज माना जाता है। किसी देश के अर्थतंत्र को व्यापारी सर्वाधिक प्रभावित करता है। भ्रष्ट अर्थतंत्र समस्त अनर्थ का मूल है। यदि व्यापारी समाज साहस के साथ यह संकल्प ले ले कि वह आर्थिक भ्रष्टाचार को प्रश्रय नहीं देगा तो इस देश का नक्शा बदल सकता है। महावीर के अनुयायी यह साहस नहीं दिखाएंगे तो कौन दिखलाएगा?

'महावीर का अर्थशास्त्र' को उनका अनुयायी वर्ग व्यवहार में उतारकर केवल इस देश के सामने ही नहीं, अपितु पूरे मानव जाति के सामने एक आदर्श प्रस्तुत करके अपना दायित्व निभा सकता है। क्या ऐसा हो सकेगा?

यदि ऐसा हो सका तो इस लोकोपवाद का निराकरण स्वतः ही हो जाएगा कि जैन परंपरा में व्यक्ति के मोक्ष का मार्ग तो है, समाज दर्शन नहीं। यदि ऐसा नहीं हो पाया तो इतिहास हमें ही दोषी ठहराएगा कि एक उत्तम आदर्श के उपलब्ध रहने पर भी हम उसे नहीं अपनाकर उस मार्ग पर चले जो विनाश की ओर जाता था।

❖

स्त्रियों की अवस्था में सुधार न होने तक विश्व के कल्याण का कोई मार्ग नहीं। किसी पक्षी का एक पंख के सहारे उड़ना नितांत असंभव है।

—विवेकानंद

सप्त-भौम हर्म्य पर उसकी बहन वासंती वसंत का आनंद ले रही थी। सखियों और दासी-समूह से परिवृत वह नीले आकाश की शून्यता में खोई जा रही थी। इतने में ही एक दासी ने उसे अंगुली-निर्देशपूर्वक बताते हुए कहा—'स्वामिनी! वह देखो, आपका भाई आ रहा है।' बहन ने देखा, उसकी आंखें फटी रह गईं। उसने यह कल्पना नहीं की थी कि उसका सहोदर इस दयार्द्र अवस्था में यहां आएगा। मन में विकल्पों का ज्वार आया। उसने सोचा—इस अत्यंत श्रीहीन व्यक्ति का भाई के रूप में सत्कार कर मैं अपने श्वसुरालय या सखियों में हास्यास्पद कैसे बनूं?

धन की उपासना

मुनि दुलहराज

संसार एक अजीब नाट्य-गृह है। यहां के कण-कण में हृदय-प्लावक नृत्य की झांकी मिलती है। चेतन ही क्यों, जड़ भी नाचता है। यहां का पुरुष नट है और नारी नटी। सभी आते हैं, अपना-अपना अभिनय पूरा कर चले जाते हैं। जितने अभिनेता उतने ही अभिनय। अभिनयों की समानता यत्र-तत्र दृष्टिगोचर हो जाती है, परंतु एकता नहीं दिखती। अभिनयों के प्रकार में आकाश-पाताल का अंतर है। यही तो संसार है। नृत्य की मोहिनी, हृदय की अनुरक्ति, मान का माधुर्य, स्वार्थ की अनवरतता और अतृप्त आकांक्षाओं की मोहकता जब चेतना पर हावी होती है, तब अभिनय की अभिव्यंजना कुछ और ही प्रकार की होती है, तब अभिनेता उसमें तन्मय हो जाता है—अपना अस्तित्व ही भूल जाता है।

धन ने कहा—मेरी अभ्यर्थना कहां नहीं हुई? जिनमें चेतना का अत्यंत विकास था, उनको मैंने अपने पाश में बांधा। उनको मैंने दास बनाया। बंधने पर भी, दास होने पर भी, वे मुझे अपने भुजपाश में लपेटे रहे और चिरकाल तक सुखाभास की मधुर अनुभूति में खोए रहे।

असूर्यंपश्या कोमलांगी युवतियों को मैंने दुनिया दिखाई और उनके सतीत्व को क्रय-विक्रय की संकरी पगडंडी पर ला खड़ा किया। मनस्वी महर्षियों का उत्कट तपोबल मेरे लुभावने चरणों पर कितनी बार नहीं लुटा। राजा-महाराजा और सम्राटों ने मेरी अभ्यर्थना इसलिए की कि मैं उनकी शक्ति का एकमात्र स्रोत था। हर्म्यवासी धन-कुबेरों ने मेरी अभ्यर्थना इसलिए की कि मैं उनके अस्तित्व का आदि-अंत था। घास-फूस की टूटी-फूटी झोंपड़ी में चलने-फिरने वाले नर-कंकालों ने मुझे देव-कुसुमवत् इसलिए धारण किया कि मैं उनके आन-पान का आधार-स्तंभ था। मैंने युद्ध करवाए तो शांति का प्रेरक भी मैं ही रहा। मैंने भ्रातृत्व व बंधुत्व आदि संबंधों को कबंध कर डाला, परंतु कबंध-संबंधों को भी मैंने ही सही संबंध में बदला है। मैं प्रलय का आदिरूप हूं, परंतु सृष्टि का भी आदिबीज मैं ही हूं। मैं उपास्य हूं, उपासक हूं और उपासक की साधना भी मैं ही हूं। यह पवित्र त्रिवेणी की धारा अविरल बहती रही है और आज भी वह जनमानस पर अपना प्रभाव लिए चल रही है। मेरी उपासना गुणों की उपासना है। इसीलिए तो कवि-हृदय ने कहा—'सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति'। मैं सर्वार्थ सिद्धप्रद्र हूं। मैं अनाथों का नाथ, अबंधु का बंधु, अमित्र का मित्र हूं और हूं मैं एक अमृत की तरंग जो उछलती है, फुदकती है और आकाश को छूने सतत छलांगें मारती है।

धन की इस गर्वोक्ति पर साधु-मानस कुछ विचलित हो जाता है, परंतु मोहाविल सारे हृदय इसकी रसमय धारा में आकंठ डूबे हुए हैं और वे स्वयं इस धारा के आर-पार को जानने के लिए इसी की आंखों से देखते हैं। इसके इंगित पर मनुष्य अपने मन के चुने हुए मोतियों को भी इस पर वार देता है। इसकी मदांधता में संबंध कबंध हो जाते हैं अथवा

'वादरायण' संबंध में परिणत हो जाते हैं। इसी तथ्य को इस कथा की स्फुट किरणों के माध्यम से देखें।

भयानक अंधेरी रात थी। 'सायं-सायं' जंगल के बीच मार्ग खोजता हुआ एक युवक निर्लक्ष्य चला जा रहा था। कांटों की चुभन और मार्ग में बिखरे पत्थरों की ठोकर से वह गिरता-पड़ता, पुनः संभलकर चलने का प्रयास कर रहा था। हजार प्रयत्न करने पर भी उसे मार्ग नहीं मिला। हताश हो वह पेड़ के नीचे सो गया। करवट बदलते आधी रात बीत गई। नींद नहीं आई। नींद की परम शत्रु है चिंता। 'चिंता दहति सजीवम्'—चिंता उसे नोच-नोचकर खा रही थी। स्मृति के गहरे विवर्त्त से संचित वेदना और आनंद के सभी कण एक-एक कर उछलने लगे।

उसे अपना बचपन याद हो आया। सोने के झूले और सोने-चांदी के खिलौनों से क्रीड़ा करने के दृश्य आंखों के सामने नाचने लगे। यौवन की मादकता, वैभव का अजस्र प्रवाह, समस्त सुख-सुविधाओं की अनुकूलता और संपूर्ण मंगलमय वातावरण में धन-कुबेर की इकलौती पुत्री के साथ अपना परिणय, सुहाग-रात, चंद्रमुखी के लुभावने हाव-भाव के सारे दृश्य प्रत्यक्ष होते गए। उसने सोचा—'कितना सुखी था मैं! सुरेंद्र के सुख भी मेरे मानवीय सुखों की तुलना में नगण्य थे। ऐसा मानकर मैंने क्या-क्या सुखोपभोग नहीं किए? लक्ष्मी मेरी चेरी थी। भाई, बहन, भतीजे—सभी मेरा समादर करते क्योंकि मेरी प्रतिभा, अर्थार्जन की निपुणता और नेतृत्व की अटूट शक्ति, उन्हें पराभूत किए थी। कुटुंब का प्रत्येक कार्य मेरे इंगित पर चलता। कितना सौभाग्यशाली था मैं! मैंने धन कमाना सीखा, परंतु साथ-साथ में उसे लुटाना भी जानता था। दानवीरों में मैं अग्रणी था। करोड़ों का धन लुटाया। परंतु हाय! निर्दयी दुर्दैव!! तेरी परछाईं पड़ते ही सब कुछ स्वप्नवत् विलीन हो गया। सर्वप्रथम तूने माता-पिता के वियोग के धधकते अंगारों पर चलाया। वैभव की अटूट धारा के तूने खंड-खंड कर दिए। गगनचुंबी अट्टालिकाओं को तूने दमड़ी के मोल बिकाया। भाई-भतीजे सभी मुझे छोड़ चले गए। एकमात्र पुत्र को भी तूने छीन लिया। तू समवर्ती कहलाता है—परंतु मैं कैसे मानूं कि तू समवर्ती है? तेरा बर्ताव पक्षपातपूर्ण नहीं—यह कौन विज्ञ मानेगा? जो कुछ हुआ सो हुआ, परंतु तू इतने पर भी नहीं रुका। वेदना की तीव्र अनुभूतियों में भी मैं धैर्य लिए चलता रहा, परंतु तुझे यह नहीं रुचा। मुझे दर-दर का भिखारी बनाकर ही तूने सुख की सांस ली। आज मेरे पास खाने को अन्न का एक दाना भी नहीं।

'क्या करूं? कहा जाऊं'?—इसी चिंता की उधेड़बुन में वह खोया जा रहा था। दुख के दावानल में वह जल रहा था, परंतु उस जलन में आंतरिक शून्यता नहीं थी, एक हृदय की अनुभूति थी। उसने सोचा—दुख अमृत है, यदि कोई उसे पचा सके। दुख हलाहल है, उनके लिए जो उसे पचाना नहीं जानते। चिंता की तीखी अनुभूति में स्मृत भी विस्मृत-सा हो जाता है। वह सब कुछ भूल गया, परंतु एक बात उसे याद आई। घर से निकलते समय उसकी पत्नी ने कहा था—'आपकी भगिनी आज भी ऐवर्श्य के बीच पल रही है। आप उसके पास जा कुछ सहायता मांगें। वह आपका सम्मान करेगी और अपने पूर्व उपकारों को याद कर आपके इस दयनीय दैन्य का नामशेष कर देगी।' पत्नी ने ठीक कहा था। सहायता मांगने में दोष ही क्या है? वह दूसरी थोड़े ही है—इस प्रकार चिंतन की धारा आगे बढ़ी। उसे नीति-वाक्य याद हो आया। उसने कहा—'दुखावस्था में बंधुजन से याचना नहीं करनी चाहिए।' परंतु दैन्य की दारुणता ने उसे भगिनी के गृह की ओर प्रस्थान करने के लिए बाध्य किया।

सूर्योदय हुआ। वह वहां से चला। फटी हुई पगड़ी, स्यूति-संकुल संव्यान कंथा को लज्जित करने वाली धोती, फटे हुए जूते, म्लान मुख—इस दयनीय दशा से वह आशा और निराशा की स्थपुट-भूमि को पार करता हुआ चला जा रहा था। आशा का अनुबंध मधुर होता है। इसमें शारीरिक और मानसिक सभी वेदनाएं विलीन हो जाती हैं।

सप्त-भौम हर्म्य पर उसकी बहन वासंती वसंत का आनंद ले रही थी। सखियों और दासी-समूह से परिवृत वह नीले आकाश की शून्यता में खोई जा रही थी। इतने में ही एक दासी ने उसे अंगुली-निर्देशपूर्वक बताते हुए कहा—'स्वामिनी! वह देखो, आपका भाई आ रहा है।' बहन ने देखा, उसकी आंखें फ़टी रह गईं। उसने यह कल्पना नहीं की थी कि उसका सहोदर इस दयार्द्र अवस्था में यहां आएगा। मन में विकल्पों का ज्वार आया। उसने सोचा—इस अत्यंत श्रीहीन व्यक्ति का भाई के रूप में सत्कार कर मैं अपने श्वसुरालय या सखियों में हास्यास्पद कैसे बनूं?

'री चेटी! तू पागल है, कहां है मेरा भाई? उन्मत्ते! तू अंधी है। मध्याह्न के सूर्य के प्रखर ताप में भी तुझे नहीं दिख रहा है। लगता है, तूने मदिरा पी है।'

'स्वामिनी! आप कुछ भी कहें, यह आपकी इच्छा है। प्रसन्न हों अथवा खिन्न, वह निश्चित ही आपका सहोदर है।'

'पगली! तू मेरे विपुल वैभवशाली पितृकुल को कलंकित करने के लिए क्यों उतावली हो रही है? तू मेरे

सहोदर की संपन्नता को क्या जाने? जा, दूर हट। आंखों के सामने मत रह।' उसने अपनी सखियों की ओर मुड़कर कहा—'सखियो! इस दासी की अनर्गल बातों पर ध्यान मत देना। यह कभी-कभी उन्मत्त हो जाती है। यह जिसे मेरा सहोदर बता रही है, वह मेरे पिता के घर में 'चुल्ली-दीपक' (रसोइया) है।'

इतने में सुबंधु अपनी बहन के द्वार पर आ पहुंचा। अपनी स्वामिनी की आज्ञानुसार दासी ने उसे पशुशाला की ओर जाने का संकेत किया। वह वहां गया। कुछ ही देर में दासी उसके सामने खट्टी छाछ से भरा एक सिकोरा और बासी रोटी का एक टुकड़ा रखकर चली गई। पशुशाला की नीरवता, रोटी की कठोरता, छाछ की कटुता और भगिनी के प्राथमिक व्यवहार से उसका अंतःकरण रो उठा। उसने सोचा—'भाग्य का विपाक बड़ा विचित्र होता है। धन क्षीण हो गया, ऐश्वर्य विलीन हो गया, भूख संतप्त कर रही है, परिजन दूर चले गए हैं, कौटुंबिक मुंह नहीं दिखाते। बहन ने भी मेरा तिरस्कार किया। अहो! विचित्र है धन की महिमा। इसके आगे मानव का मूल्य कौड़ी जितना भी नहीं है। इसके बिना नैसर्गिक संबंध भी श्लथित हो जाते हैं। चेतनाहीन होते हुए भी यह चेतनशील को निष्प्राण बना देता है। हंत! यह जड़ की महिमा है। इस सामाजिक स्थिति का अतिक्रमण कैसे हो? धन-संग्रह के दोषों को जानते हुए भी मुझे उसका संग्रह करना होगा, क्योंकि उसके बिना समाज में कोई गति नहीं।'

वह उठा। पशुशाला के एक ओर उस छाछ और रोटी को भूमि-सात् कर वहां से चलता बना।

'उद्योग कर्म में कौशल लाता है'—यह सोच उसने परदेश को प्रस्थान किया। 'उद्योगी पुरुष के पास लक्ष्मी आती है'—यह सोचकर तत्काल उसने व्यवसाय प्रारंभ किया। निपुणता से प्रचुर धन का अर्जन किया। थोड़े समय में ही पहली स्थिति को पा, समस्त कार्य-कलाप की व्यवस्था कर, पुनः अपने देश को चला। बीच में वह नगरी दिखी, जहां उसकी सहोदरी रहती थी और जहां आकाश के बीच सारी स्मृति लिखी हुई थी।

'मदांध बहन ने जो किया सो किया। उससे मुझे क्या? बहन से मिलूं, पुनः उसका बंधु भी बनूं और धन के प्रदर्शन से उसकी दृष्टि को निर्मल करूं'—यह सोचकर उसने अपने भृत्यों को भेज अपने आगमन की सूचना बहन को दी। भ्राता के आगमन की सूचना मिलते ही बहन रोमांचित हो उठी। उसकी रोमराजि खिल उठी। वह ससंभ्रम अपने भौम पर चढ़ी। बहुत परिकरों से परिवृत घोड़ों के रथ पर आते हुए अपने बंधु को देखकर वह प्रसन्न हुई। उसने अपनी सखियों को बुलाकर अंगुली के इशारे से अपने भाई को दिखाया। आकाश को चाटती हुई वह बोली—'सखियो! देखा, यह है मेरा भाई। अरे, कहां गई वह दिनांधा, जिसने उस वराक को भी मेरा भाई कहा था।' इतने में भाई भी उसके घर के पास आ पहुंचा। वह उसके स्वागत के लिए बाहर गई, वर्धापन किया और भाई को अंदर चलने के लिए अनुरोध किया।

भाई ने कहा—'अभी यहां ठहरने का इच्छुक नहीं हूं, शीघ्र ही अपने घर जाना चाहता हूं। मार्ग में जाते हुए सोचा, तुझसे मिलूं, सो मिल लिया हूं।'

'बंधो! ऐसा क्यों कहता है? क्या यहां आकर बिना भोजन किए ही चला जाएगा? क्या यह उचित है? क्या तू मुझे लज्जित करना चाहता है? भोजन पका हुआ है, अंदर चल।' भाई का हाथ खींचते हुए बहन ने कहा।

'बहन! तेरा अनुरोध मैं टाल नहीं सकता। भोजन करना ही होगा। परंतु मुझे पशुशाला में ले चल। मैं यहां भोजन नहीं करूंगा।' सारी स्मृति को सद्यस्क करते हुए भाई ने कहा।

'हाय! तुझे क्या हो गया है? क्या तू किसी आतंक से ग्रस्त है? मुझे पीड़ित मत कर। क्या भला मेरा भाई इस पशु गोचर में बैठेगा? यह कभी नहीं होगा। मैं अपने पितृकुल के सम्मान को इन कृत्यों के द्वारा नीचा नहीं करना चाहती। जिस बहन के पास वैभव का अजस्र प्रवाह है वह अपने भाई, जो स्वयं लक्ष्मी-पुत्र है, को रत्नजड़ित पट्टे पर बिठाकर भोजन कराएगी। पितृकुल का वैभव नारी को अतल ऊंचाई पर चढ़ा देता है—आज तू यह क्यों भूल रहा है?' बहन ने एक ही स्वर में कह डाला।

'नहीं, बहन! मैं तो वहीं जाऊंगा। वही मेरे लिए उचित स्थान है।' इतना कह वह पशुशाला की ओर बढ़ा। बहन ने उसे मनाया, प्रार्थना की, अनुनय-विनय की, पर सब व्यर्थ।

सुबंधु वहां से चलता हुआ पशुशाला में आ पहुंचा। पशुओं के मल-मूत्र की दुर्गंध से सिर फटने लगा, परंतु उसने धैर्य नहीं खोया। एक ओर बने चबूतरे पर जा बैठा। ऐश्वर्य के पीछे जैसे मदांधता आती है, वैसे ही विपुल वैभवशाली भाई की परछाईं का अनुसरण करती हुई बहन भी वहां आ पहुंची। थोड़ी देर में ही सोने-चांदी के बर्तनों में विविध पक्वान्नमय भोजन भाई के आगे प्रस्तुत किए गए। दो नौकर पंखों से हवा कर रहे थे। बहन ने भाई से भोजन करने के लिए अनुरोध किया। भाई ने अपने नौकरों द्वारा लाए गए रुपये, मोती, हीरे, मणि आदि से भरे हुए पात्रों को आगे कर उन्हें भोजन करने के लिए आदेश दिया।

'भाई! आज तू निश्चित ही पागल हो गया है। क्या ये भी भोजन करेंगे?' बहन ने मुस्कराते हुए कहा।

'हां, बहन! यह भोजन इस ऐश्वर्य के अधिकार का ही है, दूसरा कौन करेगा?' भाई ने गंभीर होते हुए कहा।

'भाई! मैं यह नहीं समझ सकी, तेरा आशय क्या है? तू पागल की तरह क्यों बातें कर रहा है?' बहन ने अपने पूर्वाचरित को भूलते हुए कहा।

'भगिनी! मैं मत्त नहीं हुआ हूं, सत्य कह रहा हूं। मुझे कौन जिमाए? यह तो इनका सत्कार है, इनका सम्मान है, इनकी ही कृपा मानता हूं, जिससे पुनः मैं तेरा भाई हो सका हूं। क्या वह दिन भूल गई, जिस दिन मुझे रसोइया कहकर बहुत ही संतुष्ट हुई थी। यह वही पशुशाला है, जिसमें मुझे बिठाया गया था और मिट्टी के सिकोरे में खट्टी छाछ और सूखी रोटी परोसी गई थी।' उसने उठकर संकेतित भूमि को खोदकर वह सिकोरा उसके सामने ला रखा।

भाई के अप्रत्याशित तीखे वचनों से उसका पाषाण-हृदय बिंधा जा रहा था। लोभ के पाषाण-हृदय पर बाणों की बौछार हो रही थी। एक ओर कर्ण-कटु शब्दों से उसका मन पीड़ित हो रहा था तो दूसरी ओर स्वयं के आचरण की स्मृति उसे नोंच-नोंचकर खा रही थी। वह सिर नीचा किए पृथ्वी में समा जाने की बाट देख रही थी। भाई ने आगे कहा—'बहन! यह लक्ष्मी बादलों की छाया है। कभी किसी प्रदेश को आवृत करती है और कभी किसी को। इसका क्या अभिमान, क्या मदांधता! तुमने अपने निर्धन बंधु का इतना अपमान किया, जिसकी आशा नहीं की जा सकती थी। बहन, वसंत में लहलहाने वाले वृक्षों को भी पतझड़ का सामना करना पड़ता है। भला इस नाट्य-गृह में किस व्यक्ति की एक-सी दशा रही है? कौन अभिनेता एक-सा अभिनय कर रहा है? बहन! तुमने अपने भगिनीत्व को दूषित किया है। यह मेरा-तुम्हारा अंतिम मिलन है। सुख से रहो, मैं अपने घर जा रहा हूं।' ❖

रचनाकारों से

जैन भारती में नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के विचार-प्रधान व विश्लेषणात्मक लेख और मौलिक कहानियों-कविताओं का स्वागत है। प्रकाशित-प्रसारित रचनाओं का उपयोग करना संभव नहीं होगा।

अपनी रचनाएं कागज के एक तरफ साफ-साफ टाइप की हुई भेजें। कागज के एक ओर पर्याप्त हाशिया अवश्य छोड़ें।

हाथ से लिखी हुई रचनाएं भी कागज के एक ओर ही लिखी हों। लिखावट साफ-सुथरी बिना काट-छांट के होनी चाहिए। कागज के एक ओर हाशिया अवश्य छोड़ें।

जीवन परिचय, व्यक्तित्व व कृतित्व पर लिखे गए लेख सीधे नहीं भेजें। ऐसे लेख हमारे मांगने पर ही लिखें व भेजें तो बेहतर होगा।

सम-सामयिक विषयों पर विचारात्मक टिप्पणियों का भी हम स्वागत करेंगे। ऐसे लेख भी नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के हों और विश्लेषणात्मक हों तो बेहतर होगा।

महिलाओं, किशोर और बाल-मन पर आधारित रचनाओं का हम स्वागत करेंगे। आप चाहें तो कहानी-कविता भी भेज सकते हैं।

अप्रकाशित रचनाएं लौटाना अथवा इस बारे में पत्र-व्यवहार करना संभव नहीं होगा। बेहतर हो, भेजी गई रचना की एक प्रति रचनाकार पहले से ही अपने पास रखें।

प्रेम का अमोघ अस्त्र

कोशल देश में एक बड़ा ही भयंकर डाकू रहता था। उसका नाम था अंगुलिमाल। उसने लोगों को मार-मारकर उनकी अंगुलियों की माला अपने गले में डाल रखी थी, इसलिए उसका यह नाम पड़ा।

उन दिनों कोशल में प्रसेनजित राजा राज्य करता था। अंगुलिमाल के आतंक से वह बेहद परेशान था। उसे पकड़ने के लिए उसने पुलिस-सेना तैनात की, अस्त्र-शस्त्रों का उपयोग किया, लेकिन अंगुलिमाल उनके हाथ नहीं आया।

एक बार प्रसेनजित पांच सौ सैनिकों को लेकर अंगुलिमाल को पकड़ने के लिए इधर-उधर दौड़-धूप कर रहा था कि उसे पता चला, भगवान बुद्ध वहां विहार कर रहे हैं। वह उनके पास गया। उसके चेहरे पर हवाइयां उड़ रही थीं। बुद्ध ने कहा, 'क्या बात है... ? इतने परेशान क्यों दिखाई दे रहे हो ? क्या किसी राजा ने तुम पर हमला कर दिया है ?'

प्रसेनजित बोला, 'भंते, किसी ने हमला नहीं किया है। मेरे राज्य में अंगुलिमाल नाम के डाकू ने तबाही मचा रखी है। मैं उसी को पकड़ने की दिन-रात कोशिश कर रहा हूं।'

बुद्ध ने मुस्कराकर कहा, 'वह तुम्हारी पकड़ में नहीं आता! अच्छा, यह बताओ कि यदि वह धर्मात्मा के रूप में तुम्हारे सामने आए तो तुम क्या करोगे ?'

'मैं उसका स्वागत करूंगा और उसकी सेवा और रक्षा करूंगा।' प्रसेनजित ने कहा।

तब बुद्ध ने पास बैठे व्यक्ति की बांह पकड़कर उसे राजा के सामने कर दिया। बोले, 'यह रहा अंगुलिमाल।'

प्रसेनजित को काटो तो खून नहीं। वह थर-थर कांपने लगा। बुद्ध ने कहा, 'राजन्, अब तुम्हें इससे डरने की आवश्यकता नहीं है।'

इसके बाद प्रसेनजित को पता चला कि भगवान बुद्ध के प्रेम और करुणा के आगे अंगुलिमाल पराभूत हो गया है। उसे नया जन्म मिला है। अपनी खूंखार वृत्तियों को देखकर वह भिक्षु बन गया है।

प्रसेनजित की आंखें खुल गईं। एक शासक के नाते वह माने बैठा था कि सैन्य और शस्त्र-बल से बढ़कर और कोई बल नहीं है। आज उसे मालूम हुआ कि प्रेम का मुकाबला दुनिया में कोई ताकत नहीं कर सकती।

उसने अंगुलिमाल का बड़े प्रेम से अभिवादन किया और उससे कहा, 'मैं तुम्हारे भोजन, वस्त्र, आवास आदि की व्यवस्था किए देता हूं।'

अत्यंत विनम्र भाव से अंगुलिमाल बोला, 'राजन्, आप चिंता न करें, मुझे सब कुछ मिल गया है।'

प्रसेनजित की आंखें डबडबा आईं और वह श्रद्धा से अवनत होकर वहां से चला गया।

—यशपाल जैन

नन्दकिशोर आचार्य की कविताएं

मान भी लूं

मान भी लूं
कि पाप ने मुझे ही डंसा
तो तुम्हें क्या हो गया था
जब वह मेरी ओर आ रहा था?

मुझे तब ही समझ लेना था
कि तुम क्रूर और घमंडी हो
और डरपोक भी।
मुझ निरीह से
तुम्हें भला क्या भय था?

तुम्हारे सब से प्यारे पुत्र का रक्त
जब मुझ पर
छिड़का जाता है
तो कौन होता है पवित्र
मैं? पाप? या स्वयं तुम?

तुम तो पिता हो न!
सच-सच कहो
कैसा लगता है तुम्हें
जब यीशु का रक्त
बूंद-बूंद टपकता है
और तुम्हारा चेहरा और हाथ
अपने ही बेटे के खून से
भीग जाते हैं!

आत्मपीड़ा

अंश हूं जितना
तुम्हारा मैं
उतना तो तुम्हारा भी
होगा ही मेरा दुख।

सुनो! इस आत्मपीड़ा में
तुम्हें क्या सुख?

यदि सचमुच

हां, जानता हूं
तुम दया कर देते
और मैं अमर हो जाता
पर मैंने जोर दिया अपने होने पर
और अब मैं नहीं रहूंगा

लेकिन सोचो तो जरा
कि अपने साथ तुम ने क्या किया है
तुम—जो ईश्वर थे करुण—
निर्मम और डरावनी मृत्यु बन कर
रह गए हो!

तब भी क्या मुझ को
मार सकोगे तुम—
यदि सचमुच
तुम से ही बना हूं मैं?

न होने का होना

तुम हो
क्यों कि मैं जो हूं
लेकिन नहीं हूं मैं
क्यों कि तुम जो नहीं हो।

न होने का होना भी
कोई होना है?

बोल रहा जल

सूनेपन में अंकुर फूटा :
बोल रहा जल
रेतीली खामोशी में।

शीलन

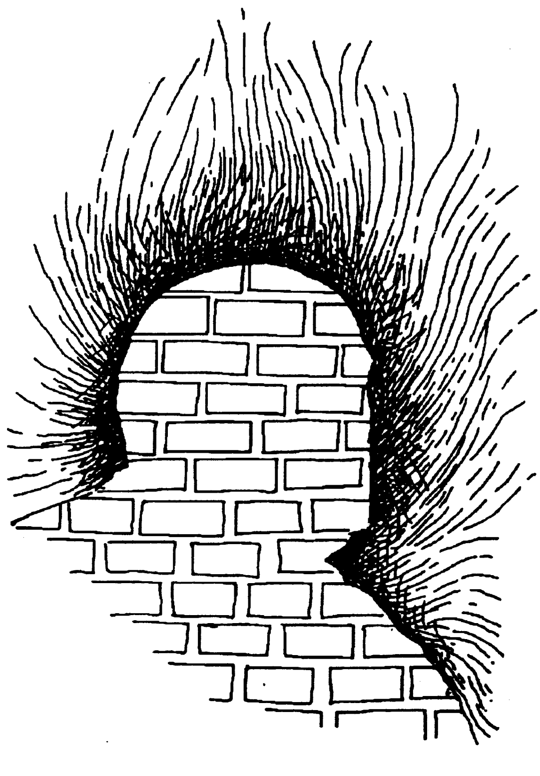

गांठ के भीतर
वह कौन-सी गांठ है
जो
कभी नहीं खुलती ?

बात के भीतर
वह कौन-सी बात है
जो
कभी नहीं बोलती ?

—रमेशचंद्र शाह

जो व्यक्ति एकत्व अनुप्रेक्षा से अपने को अनुप्राणित करते हैं वे कभी भी दुख का अनुभव नहीं करते। इनका चिंतन विधेयात्मक रहता है। उपनिषद की पवित्र ऋचा उनके सामने रहती है—'तंत्र को मोहः का शोकः एकत्वमनुपश्यतः।' वे अनुभव करते हैं कि दुनिया में कोई भी संबंध शाश्वत नहीं है। शाश्वत आत्मा है जो ज्ञान, दर्शन और चरित्र से युक्त है।

समता को कैसे साधें

साध्वी विश्रुतविभा

हमारा जीवन समस्या बहुल है। कभी शारीरिक समस्या परेशान करती है तो कभी मानसिक समस्या विक्षिप्त बनाती है, कभी भावनात्मक समस्याएं मार्ग में अवरोध पैदा करती हैं। समस्याओं के इस चक्रव्यूह में फंसा हुआ व्यक्ति समता को कैसे साधे? यह एक जटिल प्रश्न है।

भगवान महावीर ने समता का अभ्यास करने के लिए एक व्रत का निर्देश दिया—वह है सामायिक व्रत। इसकी साधना अल्पकालिक भी हो सकती है और यावज्जीवन भी।

भगवान महावीर से पूछा—सामायिक से जीव क्या प्राप्त करता है? भगवान महावीर ने उत्तर दिया—सामायिक से जीव सावद्य योगों से विरत होता है।

सावद्य योग की विरती से तात्पर्य है—अठारह पाप का प्रत्याखान। क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि निषेधात्मक भावों को छोड़ना और विधेयात्मक भाव क्षमा, मैत्री, करुणा, मृदुता आदि गुणों को स्वीकार करना। निषेधात्मक भाव मन की मलिनता को बढ़ाने के निमित्त बनते हैं, जबकि विधेयात्मक भाव सुख के संवेदन पैदा करते हैं। सामायिक के अभ्यास से सुख के संवेदन जागृत होते हैं। हमारी चिकित्सा पद्धतियों ने अनेक प्रकार की दवाइयों का निर्माण किया है। उनमें कुछ गोलियां ऐसी भी हैं जो दुख संवेदन की ग्रंथि को निष्क्रिय बनाती हैं, पर यह प्रभाव अल्पकालिक होता है। जितने समय तक दवाई का प्रभाव होता है उतने समय तक सुखद या दुखद संवेदन की अनुभूति होती है। कुछ समय पश्चात् व्यक्ति अपनी मूलभूत अवस्था में आ जाता है। जबकि समता के गहरे अभ्यास से सुख के संवेदन चिरस्थाई बनते हैं।

जैन साहित्य में दो प्रकार की क्रियाओं के बारे में वर्णन मिलता है— 1. ईर्यापथिकी क्रिया, 2. सांपरायिकी क्रिया। ईर्यापथिकी क्रिया वीतराग में होती है। इस क्रिया से जो पुद्गल आते हैं, वे इतना सुख देते हैं कि कल्पना नहीं की जा सकती है। ईर्यापथिकी क्रिया वाला मुनि सर्वार्थसिद्ध के देवताओं से भी ज्यादा सुख का अनुभव करता है। यह चिरस्थायी सुख है।

जब तक समत्व की चेतना नहीं जागती, तब तक व्यक्ति प्रियता की स्थिति में हर्ष और अप्रियता में विषाद की अनुभूति करता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ के शब्दों में 'समत्व की चेतना के जागरण का अर्थ है, तृतीय नेत्र का जागरण। यह जागरण एक दिन में संभव नहीं होता। उसके लिए दीर्घकाल व नैरंतर्य की आवश्यकता है। समत्व को साधने के लिए भावनाओं के अभ्यास को नकारा नहीं जा सकता।'

व्यक्ति के जीवन में अनेक प्रकार की घटनाएं घटित होती हैं। कभी प्रिय का वियोग होता है, कभी अप्रिय का संयोग। प्रिय व्यक्ति का वियोग व्यक्ति को दुखी बनाता है। अप्रिय का संयोग भी उसके लिए मानसिक उलझन का कारण बनता है। यह आर्तध्यान की स्थिति है। समत्व का साधक इस सचाई का अनुभव करता है कि 'संयोगाः विप्रयोगान्ताः' सारे प्रयोग अंततोगत्वा वियोग देने वाले है। कोई भी व्यक्ति या वस्तु इस दुनिया में शाश्वत नहीं है। इस तरह से चिंतन

करने वाला व्यक्ति घटना को जानता है, पर भोगता नहीं। बार-बार अनित्य भावना से भावित व्यक्ति अपनी चेतना को समत्व में प्रतिष्ठित करने में सफल होता है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज का जीवन संबंधों का जीवन है। संबंधों की व्यापकता में ममकार के बीज प्रस्फुटित होते हैं। यह मेरा भाई है, यह मेरी बहन है, यह मेरा घर है, यह मेरा नौकर है। यह ममकार और अहंकार राग-द्वेष की ग्रंथियों को पल्लवित करते हैं। ये ग्रंथियां संतुलित जीवन जीने में बाधक बनती हैं। अशरण भावना का अनुचिंतन करने वाला अहंकार और ममकार की ग्रंथि को तोड़ने का प्रयत्न करता है। वह यह चिंतन करता है 'जांल ते तव ताणाय वा सरणाय वा' कोई मेरा त्राण नहीं है, शरण नहीं है। ज्ञान ही मेरी शरण है, दर्शन मेरी शरण है, आत्मा मेरी शरण है। यह स्वस्थ अनुचिंतन व्यक्ति को समत्व की चेतना में प्रतिष्ठित करता है।

मनुष्य सामुदायिक जीवन जीता है। सैकड़ों व्यक्तियों के साथ जीवन यात्रा का निर्वाह करता है। परिवार के सब सदस्यों के साथ वह तादात्म्य की अनुभूति करता है। यही कारण है कि पारिवारिक जन की मृत्यु का संवाद उसके आघात का कारण बनता है। वह सोचता है असमय में यह घटना क्यों घटित हो गई? किंतु जो व्यक्ति एकत्व अनुप्रेक्षा से अपने को अनुप्राणित करते हैं वे कभी भी दुख का अनुभव नहीं करते। इनका चिंतन विधेयात्मक रहता है। उपनिषद की पवित्र ऋचा उनके सामने रहती है—'तंत्र को मोहः का शोकः एकत्वमनुपश्यतः।' वे अनुभव करते हैं कि दुनिया में कोई भी संबंध शाश्वत नहीं है। शाश्वत आत्मा है जो ज्ञान, दर्शन और चरित्र से युक्त है। इसी तथ्य को आगमों में बताया है—

एगो मे सासओ अप्पा णाण दंसण संणुओ।
सेसा मे बाहिरा भावा-सव्व संजोगलक्खण।।

इस प्रकार एकत्व अनुप्रेक्षा गहरा अभ्यास करने वाले व्यक्ति की चेतना संतुलित हो जाती है।

समाज में जीता हुआ प्राणी आसक्ति के धागे से इतना अधिक ग्रंथित हो जाता है कि उसे सुलझाना बड़ा दुरूह कार्य है। आसक्ति केवल व्यक्ति या वस्तु पर ही नहीं होती, वह शरीर पर भी हो सकती है। सघन मूर्च्छा के कारण व्यक्ति यह मानने लग जाता है कि शरीर मेरा है। मैं और शरीर दोनों अभिन्न हैं। अभिन्नता की स्थिति में रोग आदि से पीड़ित होने पर दुख का अनुभव करता है। जब आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न है—यह चिंतन स्पष्ट रहता है, तब रोग आदि विकास में बाधा नहीं पहुंचाते। शरीर मेरा है यह धारणा व्यक्ति को समत्व से विमुख करती है। 'आत्मान्यः पुद्गलाश्चान्यः' आत्मा अन्य है, पुद्गल अन्य है—यह चिंतन व्यक्ति को समत्व की ओर अग्रसर करता है। यह विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टिकोण व्यक्ति को यथार्थता के धरातल पर अवस्थित कर समत्व में स्थित करता है।

जो व्यक्ति अनित्य, अशरण, एकत्व और अन्यत्व अनुप्रेक्षा का प्रयोग करता है, अपने चिंतन को इन भावनाओं से पुष्ट करता है वह प्रतिकूल परिस्थिति सामने आने पर यह सोचता है 'संसार अनित्य है, कोई मेरी शरण नहीं है, मैं अकेला हूं, आत्मा और शरीर भिन्न है।' इस आध्यात्मिक चिंतन से प्रवाहित ये अमृत बूंदें साधक को समत्व की चेतना से अभिस्नात करती हैं। ❖

दोष किसका

एक मनुष्य दर्पण में अपना मुख देख रहा था। मुख भद्दा-सा प्रतीत हुआ। उसने रोषपूर्ण मुद्रा में कहा—तुम मेरे प्रतिबिंब को भद्दा बना रहे हो?

दर्पण—मैं सुंदर अथवा असुंदर नहीं जानता। जैसा बिंब होता है वैसा ही मेरे पर प्रतिबिंब। क्रोध मत करो। अपना मुख सुंदर बनाओ।

दर्पण ने कितना यथार्थ कहा—प्रायः लोग अयथार्थवादी होते हैं। यथार्थ को स्वीकार नहीं करते। वे बिंब की चिंता न करके प्रतिबिंब की चिंता करते हैं। बिंब को बिना बदले क्या प्रतिबिंब को बदला जा सकता है?

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

परमाणु शक्ति का विकास, ऊर्जा का सबसे बड़ा स्रोत बन कर बीसवीं सदी का अनुपम उपहार माना गया है। इसका सम्यक् उपयोग रचनात्मक कार्यों के लिए वरदान बन सकता है तो इसका दुरुपयोग मानव जाति के लिए अभिशाप भी बना है। आज यह शक्ति ऐसे हाथों में थमी हुई है जिससे पूरी मानव जाति भयभीत और संत्रस्त है। उसके गले में असुरक्षा की तलवार लटक रही है कि न जाने कल क्या घटित हो जाए।

उपहार (?) बीसवीं सदी का

साध्वी विमलप्रज्ञा

समय का एक पड़ाव गुजर गया। सौ वर्ष का एक काल खंड जैसे पलक झपकते ही व्यतीत हो गया हो। बीसवीं सदी के समय की रफ्तार इतनी तेज थी, ऐसा लगा मानो अनेक सदियों को एक साथ जी गया हो। इस सदी के विविध रूपों के साथ मानव ने अपनी जीवन यात्रा की। उसने विश्वयुद्धों की भयंकरता देखी तो आणविक शस्त्रों के निर्माण की होड़ भी। विज्ञान के विकास का अद्‌भुत करिश्मा भी देखा तो मानवीय गुणों के ह्रास का दुखतर दृश्य भी। हिंसा का एक घिनौना रूप देखा तो दुनिया भर में अहिंसा की चर्चा को भी सुना।

अब समूचा विश्व ईस्वी की इक्कीसवीं सदी का बेसब्री के साथ इंतजार कर रहा है। सबके सामने चिंतनीय बिंदु है—इस सदी में हमने क्या पाया और क्या खोया है? भविष्य के लिए हमें कौनसे लक्ष्य निर्धारित करने हैं? नया क्या करना है? जिससे समय के साथ हम भी गतिशील रह सकें। बीसवीं सदी का इक्कीसवीं सदी के लिए क्या उपहार होगा?

माना जा सकता है कि भौतिक विकास की दृष्टि से यह सदी उपलब्धियों से लबालब भरी हुई है। अर्थार्जन के साधनों का निश्चय ही विस्तार हुआ। कहा जा सकता है कि उद्योग धंधों की बाढ़-सी आ गई। वैज्ञानिक उपकरणों के विकास ने जीवनशैली को यंत्रमय बना दिया। भयंकर गर्मी को मिटाने के लिए वातानुकूलन के रूप में एक छोटा-सा हिमालय घर में देखा जा सकता है तो भयंकर सर्दी का हरण करने के लिए हीटर के रूप में ताप का बंदोबस्त भी किसी भी घर में किया जा सकता है। अंधकार को मिटाने के लिए बिजली के एक बल्ब के रूप में एक छोटा-सा सूरज हर घर में उपलब्ध है। मनोरंजन और देश विदेश की समस्त जानकारी के लिए रेडियो और टेलीविजन की सुविधाएं भी हैं। मनुष्य का ऐसा कोई कार्य नहीं है जो यंत्र से संपादित नहीं होता हो, लेकिन यह यंत्रमय जीवन शैली क्या दे रही है? आज मनुष्य प्रकृति से हटकर विकृति की ओर बढ़ रहा है।

यह सही है कि आज ऐसा कोई क्षेत्र नहीं बचा है जहां मनुष्य ने उल्लेखनीय सफलता हासिल न की हो। चिकित्सा के क्षेत्र में हुई नित नई खोज और सूक्ष्म यंत्रों के निर्माण ने असंभाव्य को भी संभव बना दिया है। जीवन की आशा छोड़ देने वाले व्यक्ति के लिए भी चिकित्सा एक आश्वासन है। 'ओपन हार्ट सर्जरी', 'डायलेसिस', 'टेस्ट ट्यूब बेबी', 'जीन थेरेपी', 'लेजर थेरेपी' आदि चिकित्सा विधियों ने इस के क्षेत्र में तहलका मचा दिया है। शल्य चिकित्सा ने तो क्रांतिकारी डग भरे हैं। अंग प्रत्यारोपण की घटना चिकित्सा जगत में उल्लेखनीय है।

सेटेलाइट के जरिए पूरी दुनिया अब एक पीठ पर लाकर बैठा दी गई है। क्षेत्रीय दूरियां समाप्त हो गई हैं। दुनिया के किसी भी कोने में बैठे व्यक्ति से क्षणों में संपर्क साधा जा सकता है। समंदर पार घटित होने वाली घटना आंखों से देख सकते हैं।

स्पेश साइंस के विकास ने अंतरिक्ष का रास्ता खोल दिया है, भले इक्कीसवीं सदी का आदमी प्रदूषण से बचने के

लिए अंतरिक्ष में ही निवास करे, वहीं खेती करे और वहीं हनीमून मनाए।

'जेनेटिक इंजीनियरिंग' का विकास आनुवांशिकी के क्षेत्र में अब तक हुए आविष्कारों में एक क्रांतिकारी आविष्कार है। 'क्लोनिंग' पद्धति के आविष्कार ने हर चिंतनशील व्यक्ति को हिला दिया है।

'जेनेटिक इंजीनियरिंग' का दूसरा प्रयोग वनस्पति पर किया गया, जिससे वनस्पति का छोटा रूप बड़े रूप में बदल जाता है। 'ग्रीन हाउस' के विकास से मनुष्य हर मौसम में इच्छानुसार फल सब्जी पा सकता है।

परमाणु शक्ति का विकास, ऊर्जा का सबसे बड़ा स्रोत बन कर बीसवीं सदी का अनुपम उपहार माना गया है। इसका सम्यक् उपयोग रचनात्मक कार्यों के लिए वरदान बन सकता है तो इसका दुरुपयोग मानव जाति के लिए अभिशाप भी बना है। आज यह शक्ति ऐसे हाथों में थमी हुई है जिससे पूरी मानव जाति भयभीत और संत्रस्त है। उसके गले में असुरक्षा की तलवार लटक रही है कि न जाने कल क्या घटित हो जाए।

इस प्रकार भौतिक विकास जहां शिखरीय ऊंचाई को छू रहा है वहां आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से मानव तलहटी में बैठा हुआ है। भौतिक विकास ने उसके कद को ऊंचा उठाया है, वहीं मानवीय मूल्यों के विकास की दृष्टि से वह बौना दिखाई दे रहा है। भौतिक विकास और आध्यात्मिक विकास का संतुलन नहीं होने के कारण ही इस सदी ने अनेक समस्याओं को जन्म दिया है।

आज शिक्षा के विकास ने वैज्ञानिक, डॉक्टर, वकील, इंजीनियर आदि-आदि खड़े कर दिए हैं, दूसरी ओर एक संस्कारहीन पीढ़ी भी इसी शिक्षा का परिणाम है।

संतुलित भौतिक विकास का ही फलित है प्रदूषण की समस्या। इस बढ़ती प्रदूषण की समस्या ने मानव जीवन के लिए खतरे की घंटी बजा दी है। आज सांस लेने के लिए न शुद्ध हवा है और पीने के लिए न शुद्ध जल है। न खाने के लिए शुद्ध भोजन है। प्रकृति का प्रदूषण जुड़ा हुआ है मन के प्रदूषण से, विचारों के प्रदूषण से। इसलिए इस सदी की सबसे बड़ी समस्या विचारों का प्रदूषण है।

वैज्ञानिक युग ने यंत्रों का ढेर लगा दिया है। जीवन का हर कार्य यंत्र से संपादित होता है। इस यंत्र की संस्कृति ने जीवन को सुविधावाद की ओर ढकेल दिया है। इस सुविधावाद और भौतिकवाद ने मानव को अनेक बीमारियों का भी उपहार दिया है।

इन सारी उपलब्धियों का लेखा-जोखा करने के बाद एक प्रश्न उभरता है कि आखिर यह विकास किसके लिए है? आचार्यश्री महाप्रज्ञ जी के शब्दों में—'विकास के लिए मनुष्य है अथवा मनुष्य के लिए विकास है। यदि विकास के लिए मनुष्य है तो वह भी विकास की मशीन का एक पुर्जा मात्र है। यदि मनुष्य के लिए विकास है तो मनुष्य के अस्तित्व पर विचार करना होगा।'

भौतिक विकास और आध्यात्मिक विकास का संतुलन नहीं होने से आज मानव जीवन खतरे में है, तब इस विकास का अर्थ ही क्या है? जैसे चींटियों के पर, ताड़, कदली और बांस के फल उसके विनाश की सूचना देते हैं, वैसे ही मानव द्वारा किया गया यह असंतुलित विकास स्वयं मानव के विनाश की सूचना दे रहा है। मानवीय गुणों के ह्रास का ग्राफ तेजी से नीचे गिर रहा है। आज पृथ्वी खौलता हुआ ज्वालामुखी है। समूचा विश्व बारूद के ढेर पर है। न जाने कब किस मनुष्य की सनक विश्व को आग की लपटों में धकेल दे। कुछ कहा नहीं जा सकता।

हिंसा अब व्यक्तिगत घटना नहीं रही है। वह संगठन का रूप ले चुकी है। अपराध भी संगठित और योजनाबद्ध कार्य प्रणाली बन चुके हैं। संवेदनाएं भोंथरी और भावनाएं पथरीली बन गई हैं। अमानवीय कार्यों से मनुष्य की स्थिति पशु से भी बदतर हो रही है।

तब इक्कीसवीं सदी कैसी होगी? यह एक गंभीर प्रश्न हमारे सामने है। इसका उत्तर एक ही है। अब अपेक्षा है संयम के विकास की, मानवीय मूल्यों को प्रतिष्ठित करने की। संयम की धरती पर विस्तार पाने वाली विकास की धाराएं ही मानव जीवन के लिए हितकारी बन सकती हैं।

मानवीय मूल्यों की बुनियाद पर विस्तार पाने वाला आर्थिक विकास ही मानव को सुरक्षा दे सकता है।

अहिंसा की आधारशिला पर उभरने वाली अणु शक्ति ही सृजनात्मक कार्यों के स्वस्तिक उकेर सकती है।

बीसवीं सदी का हर चिंतनशील, विवेकशील और सृजनशील व्यक्ति यदि यह संकल्प करता है कि वे इस सदी की मूढ़ताओं को नहीं दोहराएंगे, अशुभ अतीत को डूबते सूरज के साथ तिलांजलि देंगे। शुभ वर्तमान को अंगीकार करेंगे, तभी इक्कीसवीं सदी में एक नया भारत, एक नया विश्व उदय में आ सकेगा। ❖

महत्त्व इसका नहीं कि आप क्या जानते हैं, बल्कि इसका है कि समय पर आप क्या सोचते हैं। आप जो भी हैं, जैसे भी हैं—पूरी सचाई के साथ उसे स्वीकार करें। अच्छाई को विकसित करने का प्रयास करें, कमजोरियां स्वतः दूर होती चली जाएंगी। परेशानी नहीं, प्रसन्नता आपका स्वभाव बन जाएगा। दुनिया की दौड़ में दौड़ने से अधिक महत्त्व कई बार दौड़ को देखने का होता है। ज्ञाता-द्रष्टा भाव की स्थिति सामने रखकर व्यक्तिगत स्तर पर होने वाली परेशानी से मुक्त रहा जा सकता है। निरंतर शुभ योग में रहने व प्रतिक्रिया मुक्त जीवन जीने का संकल्प भी मानसिक स्वस्थता का सेतु प्रदान करता है। 'रहें भीतर, जीएं बाहर' की सुदृढ़ भूमिका में प्रतिष्ठित हो व्यवहार भी निभाएं, कहें भी, सहें भी।

जीवन शैली : रहें भीतर जीएं बाहर

समणी सत्यप्रज्ञा

असामान्य परिस्थितियों में भी हमारा जीवन सामान्य बना रहे तो इसे तप कहा जा सकता है। लेकिन इस तपस्या में हर कोई सफल नहीं हो सकता। जाने-माने दार्शनिक अरस्तू ने कहा—'हर व्यक्ति क्रोधित हो सकता है—यह बहुत आसान है। लेकिन उचित समय में, उचित कारण के लिए सही तरीके से क्रोध किया जाए—यह बात आसान नहीं है। और इसीलिए क्रोध खतरा बन जाता है।'

'क्या आप अपने आप से परेशान हैं?' इस सीधे से प्रश्न का जवाब कोई भी बहिर्मुखी व्यक्तित्व कभी 'हां' में दे नहीं पाएगा। उसका ध्यान सदा दूसरों का गतिविधियों पर ही जाता है। एक क्षण की क्रिया भी किसी को लंबे समय के लिए प्रतिक्रिया के घेरे में कैद कर देती है। दूसरों की छोटी-सी अनचाही प्रवृत्ति किसी को भी घोर व्यथा से भर देने के लिए पर्याप्त है।

व्यक्तित्व के एक रूप को विश्लेषित करते हुए कहा गया—

'क्षणे रूष्टाः क्षणे तुष्टाः रूष्टे तुष्टे क्षणे क्षणे।
अव्यवस्थित चित्तानां प्रसादोऽपि भयंकरः।।'

अव्यवस्थित चित्त वाले को कष्ट या तुष्ट होने के लिए पुष्ट आलंबन की जरूरत नहीं होती। बिना किसी ठोस कारण के भी क्षण-क्षण में उसकी मानसिकता बदलती रहती है। इसीलिए ऐसे लोगों की प्रसन्नता भी दूसरों में प्रसन्नता का संचार नहीं कर सकती।

हम जानते हैं कि सामान्यतः समस्या के मूल में सदा छोटी-छोटी बातें ही होती हैं। अनावश्यक छोटी-छोटी बातें दिमाग में घर कर बड़ा विकराल रूप धारण कर लेती हैं। 'क्या कहा होगा?' 'क्या सोचा होगा?' 'ऐसे क्यों देखा?' या 'क्यों नहीं देखा?' 'क्यों हंसे?' या 'क्यों नहीं मुस्कराए?' आदि अनेक काल्पनिक धारणाएं प्रसंगहीनता की ग्रंथि में बांध कर व्यक्ति को बुरी तरह से बेचैन बना देती हैं। आगे-पीछे या जानने-समझने की वास्तविक सोच के रूप में जब व्यक्ति के पास कुछ नहीं होता तो दूसरों का चहकना भी सुख को लूटने जैसा लगता है और सहन-शक्ति के जवाब दे देने का नाहक आधार बन जाता है। कारण के नाम पर कुछ न होने पर भी दूसरों को हंसते देख, रो-रो कर बुरा हाल कर लेने वालों की दुनिया में कमी नहीं। हीनता की ग्रंथि में दबते चले जाना ही उनकी नियति बन जाती है और यह नियति स्पष्ट रूप से उनकी नासमझी का ही परिणाम है।

समझदार सदा समाधान की आंखों से देखता है। सौद्देश्य हो अथवा सहज, दूसरों के व्यवहार से मन को तरंगित कर देना समझदारी नहीं। दूसरों की सामान्य क्रिया की अनुगूंज यदि लंबी प्रतिक्रिया के रूप में भीतर जम जाती है तो इसका मतलब है कि व्यक्ति-व्यक्ति नहीं, वह कठपुतली है और जब, जो, जैसे चाहे उसे संचालित कर सकता है। लेकिन मनुष्य कठपुतली नहीं, दृढ़ इच्छा शक्ति, संकल्प शक्ति का मालिक है। रुग्ण मानसिकता को भी संकल्प-बल के 'टॉनिक' से स्वस्थ किया जा सकता है। उन्हें यदि यह समझ में आ जाए कि दुनिया में केवल 'वह' ही महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व नहीं है, कि लोग उसकी चर्चा करते रहें या दुनिया इतनी छोटी नहीं है कि 'उनके' सिवा लोगों को चर्चा का, हंसने का कोई विषय ही न मिले, तो उनकी परेशानी मिट सकती है। 'मैं इन छोटी-छोटी बातों में उलझने के लिए नहीं हूं'—जैसा व्यक्तिगत संकल्प आत्म-विश्वास को बढ़ाने व सही ढंग से जीने का आधार प्रदान कर सकता है।

सामान्यतया व्यक्ति अपने बारे में कुछ मानदंड निर्धारित करके चलता है। अपने प्रति अपनी अवधारणाओं के अनुरूप व्यवहार जब उसे नहीं मिलता तो एक तरह से उसके अहं को ठेस पहुंचती है और व्यक्ति तिलमिला उठता है। 'सदा पूछते हैं, आज क्यूं न पूछा?' 'अनुपस्थिति में या बिना बताए निर्णय कैसे ले लिया?' आदि विचार व्यक्ति को अन्तर्द्वंद्व से घेर कर व्यथित बना देते हैं। जबकि ऐसे प्रसंगों में उलझने से कोई लाभ नहीं होता। शक्तिहीन को कभी न्याय नहीं मिलता। नाम से नहीं, कार्य से उपयोगिता सिद्ध करने में विश्वास व विनम्र व्यवहार करने वाला कभी ऐसी उलझन में नहीं जाता। हृदय पर शासन सदा हृदय से ही किया जा सकता है, बल से नहीं। अपने आपको संचालित करने के लिए अपने मस्तिष्क को व दूसरों को संचालित करने के लिए अपने हृदय को काम में लेने वाला कभी अवसाद की स्थिति में नहीं जाएगा! यदि कहीं अपमान का प्रसंग हो तो भी नीतिकार कहते हैं—आप उस अपमान को भूल जाइए, अगर भूल नहीं सकते तो उसे उपेक्षित कर दीजिए, अगर उपेक्षा नहीं कर सकते तो चुपचाप सहन कीजिए और यदि सहन भी नहीं कर सकते तो लगता है—आप उस अपमान के योग्य हैं।

किसी को गिराने या उठाने में निमित्तों का भी अपना योग होता है। 'अमुक आपके बारे में ऐसा कह रहा था'—ऐसा कह कर दूसरों के बारे में चाहे जैसी धारणा के बीज बोने वालों की दुनिया में कमी नहीं। ऐसे लोग बड़ी आत्मीयता के साथ कुछ हिदायतें भी दे देते हैं कि—'अपना समझ कर मैंने ये सब बता दिया है, किसी को बताना नहीं' आदि-आदि। ऐसे प्रसंगों को सुनने में सदा सजगता अपेक्षित है। इधर-उधर की व्यर्थ की बातें प्रभावित कर पाए—उससे पहले ही ऐसे हितैषी महोदय को दूर से ही नमस्कार कर लेना—अपने समय व सामर्थ्य के प्रति अधिक न्याय होगा। जहां स्पष्टता से कहने का साहस ही नहीं, छिपाव का भाव है, तो उसे यथार्थ या सच कैसे माना जा सकता है? सचाई के साथ स्पष्टता में अनेक गुण समाहित हैं। कोई कुछ कहे—उसमें रस लेने के बजाय आमने-सामने की जाने वाली वार्ता से यथार्थ स्वतः सामने आ जाता है और अनावश्यक समय व शक्ति का अपव्यय भी नहीं होता।

घर और चौराहे में अंतर होता है। जीवन की यात्रा को हर तरह के मोड़ों से गुजरना होता है। विकास की किसी भी मंजिल पर पहुंचने के लिए राह के रोड़ों व तन के पसीने को नजर-अंदाज करना ही होता है। दृढ़ संकल्पी मन मंजिल के सिवा अन्य किसी मुकाम के विश्राम को स्वीकार करना नहीं जानता। आचार्यश्री महाप्रज्ञ के शब्दों में—'हर आदमी अपने विचार को महत्त्व देता है, दूसरे के विचार को सारभूत नहीं मानता।'

विवेक मनुष्य की अमूल्य संपदा है, उसके द्वारा वह परख सकता है। परीक्षा के द्वारा विचार के बल और अबल का निर्णय कर सबल विचार को स्वीकार कर सकता है। विकास मार्ग में आने वाली बाधाओं के कारणों का विश्लेषण, अपनी आदतों, अपने विचारों, अपनी कमजोरियों से परिचित कराने में विवेक ही समर्थ है। अपने ढंग से सोचने, अपने ढंग से आगे बढ़ने व अपने ढंग से जीने का सबको अधिकार है। कोई भी इसका अपवाद नहीं, पर विवेक की कसौटी के साथ ऐसा होता है तो वह उसके लिए श्रेयष बन सकता है।

महत्त्व इसका नहीं कि आप क्या जानते हैं, बल्कि इसका है कि समय पर आप क्या सोचते हैं। आप जो भी हैं, जैसे भी हैं—पूरी सचाई के साथ उसे स्वीकार करें। अच्छाई को विकसित करने का प्रयास करें, कमजोरियां स्वतः दूर होती चली जाएंगी। परेशानी नहीं, प्रसन्नता आपका स्वभाव बन जाएगा। दुनिया की दौड़ में दौड़ने से अधिक महत्त्व कई बार दौड़ को देखने का होता है। ज्ञाता-द्रष्टा भाव की स्थिति सामने रखकर व्यक्तिगत स्तर पर होने वाली परेशानी से मुक्त रहा जा सकता है। निरंतर शुभ योग में रहने व प्रतिक्रिया मुक्त जीवन जीने का संकल्प भी मानसिक स्वस्थता का सेतु प्रदान करता है। 'रहें भीतर, जीएं बाहर' की सुदृढ़ भूमिका में प्रतिष्ठित हो व्यवहार भी निभाएं, कहें भी, सहें भी। तब भीतर सदा प्रसन्नता का झरना बहता रहेगा।

❖

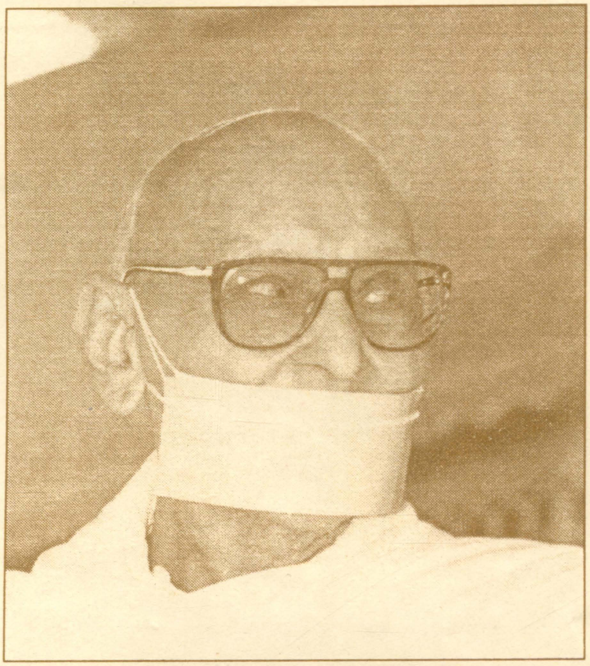

सोने के लिए जागने वाले बहुत होते हैं
पर जागृति के लिए जागने वाले विरले ही होते हैं।
—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

हार्दिक शुभकामनाओं सहित :

हेमराज शामसुखा

विनीत टेक्सफैब लिमिटेड

101, मामुलपेट, बंगलौर 560053

फोन : 2872355, 2871754

भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 जैन भारती, फरवरी, 2000 डाक पं. सं. : आर. जे. 1927/99

जो फल लिये जाते हैं, वे खट्टे होते हैं। मिठास उनमें होता है जो दिये जाते हैं।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

परस्परोग्रहो जीवानाम्

परस्परोग्रहो जीवानाम्

बस्तीमलजी छाजेड़

आचार्यश्री महाप्रज्ञ जी की ओर से श्री (स्व.) बस्तीमल जी छाजेड़ को प्रदत्त 'शासन हितैषी' अलंकरण महासभा अध्यक्ष श्री भंवरलाल डागा से ग्रहण करते हुए श्री मांगीलाल छाजेड़ व श्रीमती विमला देवी छाजेड़, सिरियारी (बंगलौर)

शाह मांगीलाल शांतिलाल छाजेड़ एण्ड कम्पनी

64, ए.एम. लेन, चिकपेट, बंगलौर 560053

भँवरलाल सिंघी, महामंत्री, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता-1 के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।